योग सिद्धान्तों एवं शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

वर्ष : 39 - अंक : 3
जून, 2006

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
सँवाई-283202 (आगरा) उ.प्र.

अमृतकण

चित्रकर्म यथाऽनेकैरंगैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात्संस्कारैर्विधिपूर्वकैः।।

—महर्षि अंगिरा

विधिपूर्वक सम्पन्न किए गए संस्कारों से संस्कृत व्यक्ति परम तत्व को या परमानन्द को प्राप्त करता है, जैसे कि अनेक रंगों से विधिपूर्वक सुसज्जित चित्र आह्लाद देने में समर्थ होता है।

✿ ✿ ✿

सदा नादानुसन्धानात्संक्षीणा वासना तु या।
निरंजने विलीयते मनोवायु न संशयः।।

—नादबिन्दूपनिषद (४८-५०)

अर्थात् शब्द के सतत अभ्यास से वासना क्षीण हो जाती है और मन और प्राणवायु का निरंजन में निश्चित ही लय हो जाया करता है।

✿ ✿ ✿

असतां दर्शनात् स्पर्शात् संजल्पाच्च सहासनात्।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्धयन्ति च न मानवाः।।

—महा० वन० १/२६

अर्थात दुष्ट तथा दुर्व्यसनी मनुष्यों के दर्शन से, स्पर्श से, उनके साथ वार्तालाप करने से धार्मिक आचार नष्ट हो जाते हैं। ऐसे कुसंगी मनुष्य कभी भी अपने किसी कार्य में सफल नहीं हो सकते।

✿ ✿ ✿

नाम संकीर्तन यस्य सर्वपापप्रणाशनम् ।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्।।

(श्रीमद्भा० १२।१३/२३)

जिन भगवान का नाम–संकीर्तन सभी पापों का नाश करने वाला है और प्रणाम दुःखनाशक है, उन परमेश्वर को मैं नमन करता हूँ।

✿ ✿ ✿

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 39
अंक 3

जून
2006

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विकरलो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणं भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

शरणागति

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तँ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/१८

अर्थात्

जो परमेश्वर निश्चय ही सबसे पहले ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और जो निश्चय ही उस ब्रह्मा को समस्त वेदों का ज्ञान प्रदान करता है। उस परमात्मज्ञान विषयक बुद्धि को प्रकट करने वाले प्रसिद्ध देव परमेश्वर को मैं, मोक्ष की इच्छा वाला साधक शरणरूप में ग्रहण करता हूँ।

SIDDHYOG
HINDI MONTHLY

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक :
डा. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

इस अंक में ...

1. विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज 3
2. सम्पादकीय 6
3. रामचरित मानस में गुरुभक्ति – वेदव्रत द्विवेदी, उमापुर 9
4. आत्म ज्ञान – जनक कुलश्रेष्ठ, ग्वालियर 12
5. गुरुदेव तुम्हारे दर्शन को... – जगदीश बंसल राय 'अधम', गोहाना मंडी 14
6. प्रार्थना – ओमप्रकाश, शशि प्रभा मित्तल, कनखल 15
7. योग और साधना का सच्चा अर्थ – दृष्टिकेतु सिंह पुण्डीर, अलीगढ़ 16
8. ध्यान योग – डा० जे० एन० राय, आजमगढ़ 18
9. वंश-परम्परा और सूर्यवंश 20
10. वेदान्त और योग – डा० महेन्द्रनाथ 23
11. महादेव का विषपान – डा० वासुदेवशरण अग्रवाल 30
12. हिमालय के अमर महायोगी – पूर्णचन्द्र पन्त 35

एक प्रति	: रु.	10.00
वार्षिक शुल्क	: रु.	110.00
द्विवार्षिक	: रु.	200.00
आजीवन	: रु.	825.00

विशेष लेख

नन्दन्ति योगीश्वराः

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

प्रातः स्मरणीय योगिराज श्री भर्तृहरि ने अपने 'वैराग्य शतक' में जीवन के इस अनुभूत सत्य को बड़ी स्पष्टता से उजागर किया है कि इस संसार रूपी सरिता का वेगवान प्रवाह जो कल्पनाओं और मनोरथों रूपी अथाह जल–राशि से परिपूर्ण है तथा जिसमें बड़े–बड़े विकराल घड़ियाल और मगरमच्छ किसी भी पार जाने वाले को निगल जाने के लिए मुँह खोले हुए अपनी क्रीड़ायें कर रहे हैं, पर्वत से ऊँचे–ऊँचे जिसके चिन्तारूपी तट हैं, इसीलिए प्रोत्तुंग चिन्ता तटी कहकर भी इसे पुकारा जाता है, साथ ही 'दुस्तरा' नाम से भी यह प्रख्यात है क्योंकि हर किसी को इसे पार कर लेने का साहस ही नहीं होता। तर्क और वितर्क रूपी पखेरू सदा इसके तल पर मंडराते ही रहते हैं। जो जीवन रूपी तरुवर इसके सीमा क्षेत्र में आ उगते हैं उन्हें भी यह सरिता अपने वेगवान प्रवाह से काट–काटकर अपने में लीन कर लेने का प्रयत्न निरन्तर करती रहती है। ऐसा है आशा नामक इस नदी का भयंकर रूप। इसके इस महाभयंकर और खतरों से भरे हुए रौद्र रूप को देख और सुनकर ही बहुधा लोग इसे दूर से ही नमस्कार करके उल्टे पाँव लौट पड़ते हैं। इसके उस पार जाने का साहस ही नहीं कर पाते। कुछ लोग जो इसमें घुसकर पार जाने का प्रयत्न करते भी हैं वे पार जाने की कला न जानने के कारण इसके भयंकर भँवरों के जाल में पड़कर अपना अमूल्य जीवन व्यर्थ ही खो बैठते हैं। फिर भी कुछेक ऐसे उत्साही भी होते हैं, जो इस आशा नाम्नी नदी के सभी खतरों का सामना करने को आगे आते हैं। ये लोग संकल्पों के धनी होते हैं और होते हैं योग–साधना का पूर्णता से पालन करने वाले योगेश्वर। अर्थात् यौगिक ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेना मात्र ही जिनका जीवन लक्ष्य हुआ करता है वे इस दुस्तरा और प्रोत्तुंग चिन्ता तटी जैसा अगाध जल राशि से पूर्ण खतरनाक नदी को सहजता से पार कर हँसते–हँसते उस पार जा खड़े होते हैं। हर्षित और आनंदित होकर वे केवल आत्म–तुष्टि प्राप्त करके ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं कर लेते बल्कि नदी के उस पार खड़े होकर ये ऊर्ध्व बाहु होकर अपना यह मौन सन्देश भी देते रहते हैं कि 'ताप ताप से पीड़ित संसारी लोगों ! आओ और हमारी तरह तुम भी योग–साधना का मार्ग अपना कर इस संसार सरिता को जो अनेक प्रकार से खतरों से आपूरित है, निरापद रूप में पार कर लो। आओ और इस पार आकर लूटो उस अपार आनन्द और शाश्वत शान्ति

को जिसे शास्त्रीय भाषा में अनिर्वचनीय कहकर पुकारा गया है। तुम्हारे उद्धार और कल्याण का केवल यही एक मार्ग है। योग मार्ग की परिपक्व साधना ही तुम्हारे सबके मन वाणी और कर्म में वह सामर्थ्य, वह क्षमता, वह पात्रता ला देगी जिसका आलम्बन पाकर तुम इस या इससे भी अधिक खौफनाक किसी भी वेगवती नदी को पार करके उस परम पद को प्राप्त कर लोगे जिसे ब्रह्म पद कहकर पुकारा जाता है। इसे प्राप्त कर लेने के बाद निश्चय ही मनुष्य को फिर और कुछ पा लेना शेष नहीं रहता। यही वह परम पद है और यही वह ब्रह्म धाम है जहाँ जाकर साधक को फिर भव बन्धन में नहीं पड़ना पड़ता।

योग योगेश्वर भगवान कृष्ण ने इसी धाम को अपना वह धाम बताया है, जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं होता। **यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम्**। और यही तत्व समझाया है भगवान श्रीकृष्ण ने अपने शरणागत जिज्ञासु शिष्य अर्जुन को। उन्होंने भी निष्कर्ष रूप में अर्जुन को, जो स्वधर्म पालन के कर्म से कतराकर युद्ध क्षेत्र से पलायन कर जाना चाहता था, बीज रूप से यही उपदेश दिया है कि अर्जुन तेरी विषाद और मोहग्रस्त जैसी अवस्था का अन्त केवल योग-मार्ग का अवलम्बन लेने से ही सकना सम्भव है। इसलिए तू योगी बन। बिना योग मार्ग पर आरूढ हुए तू सन्देह और भटकाव के मार्ग में ही पड़ा रहेगा। **'तस्मात् सर्वेषु कालेषु योग-युक्तो भवार्जुन'**। मेरे उपदेश के इस तत्व को तुझे सदैव स्मरण रखना चाहिए।

इतना ही नहीं अपने विश्व विख्यात ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता में तो भगवान यह कहकर भी कि योगी साधक तो मेरी अपनी आत्मा ही होता है तथा सर्वाधिक प्रिय मुझे योगी ही लगता है, योग-योगेश्वर भगवान ने योगी जीवन की श्रेष्ठता का ही परिचय दिया है। योगिराज भर्तृहरि ने भी योगी जीवन की श्रेष्ठता का परिचय ही अपने श्लोक **'तस्याः पारगता नन्दन्ति योगीश्वराः'** की पंक्ति के साथ समाप्त होने वाले श्लोक में दिया है। वैराग्य शतक का यह श्लोक जिसका उल्लेख हमने इस लेख में किया है, इस प्रकार है, पढ़िए इसे आप उन्हीं के शब्दों में :-

आशा नाम नदी मनोरथ जला तृष्णातरंगाकुला,
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुंगचिन्तातटी,
तस्याःपारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः।।

अर्थात् आशा नाम की एक नदी है मनोरथ रूपी जल जिसमें भरा है, तृष्णा जिसकी लहरें है, राग-द्वेष जिसके मगर और घड़ियाल है, अपने अनुकूल और प्रतिकूल होने वाले पदार्थों के निर्णय करने की विचारधारा रूपी वितर्क ही जिस पर पक्षी के रूप में विचर रहे हैं, जिसका प्रवाह धैर्य रूपी वृक्ष को गिरा रहा है, मोह रूप भँवर से जो अत्यन्त खतरनाक और अति कठिन है और बड़ी-बड़ी चिन्ताएँ जिसके तट हैं, ऐसी इस नदी के पार गये हुए

शुद्धान्तःकरण वाले बड़े–बड़े योगिराज ही आनन्द को प्राप्त होते हैं।

आशय इसका यही है कि :–

अक्षय आनन्द और शाश्वत शान्ति के अभिलाषियों को योग मार्ग का ही आश्रय लेकर उसमें दृढ़ता और नैरन्तर्य लाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। जो ऐसा करने में सफल हो पाते हैं, उन्हें ही योगेश्वर की विपुल पूँजी प्राप्त हो पाती है। ऐसे सक्षम, योगी–जीवन के धनी साधकों के मार्ग में चाहे जितने अवरोध और रुकावटें क्यों न आये सभी को वे अपने पुरुषार्थ से हटाकर अपनी योग साधना के ध्येय को प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें न तो आशाओं की भूलभुलैया रोक सकती है और न मनोरथों का जाल आड़े आता है न मगरमच्छ और विकराल घड़ियाल ही उन्हें अपनी गति से विचलित कर पाने में समर्थ हो पाते हैं। ऐसे कर्मठ योगी साधक इस महानद को पार करके अपने यश और कीर्ति की ऐसी कहानी छोड़ जाते हैं जो आने वाली पीढ़ी के लिए ज्योति–स्तम्भ का काम दिया करती है। दृढ़ निश्चय और यम–नियम जैसे महाव्रतों के पालन करने वाले पुरुषार्थी ही सारी–बाधाओं से टकराते और जूझते हुए, उस सबको एक ओर हटाते हुए निरापद एवं निर्विघ्न रूप से नदी के उस किनारे पर पहुच कर ही रुकते हैं जहाँ पर कि पहुंचना उन्होंने अपना लक्ष्य बनाया होता है। यही वह स्थान होता है जहाँ महत्तम आनन्द की लहरियाँ उसे जन्म मृत्यु और जरा आदि के भय से पूर्णतया विमुक्त कर देती हैं। साधक योगी यहां आकर पूर्णता से परितृप्त हो जाता है। **पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवा वशिष्यते।।** इस वैदिक मन्त्र का गान ही उसका अपना गान बन जाता है। 'जब तू था तब मैं नहीं, जब मैं हूँ तू नाहिं'। ऐसी स्थिति में ही वह अपने को पाता है।

योग मार्ग की साधना की अन्तिम परम गति यही होती है और इसी परम गति को प्राप्त कर लेने का दृढ़तर संकल्प लेना चाहिए प्रत्येक योग साधक को। क्षण–क्षण क्रमशः नष्ट हो जाने वाले लौकिक सुखों, कामनाओं और तृष्णा की तीव्र तरंगों के थपेड़ों तथा मान, मद, मोह के मगरमच्छ व विकराल घड़ियालों से बचकर चलने की सावधानी भी योगियों को बरतनी ही होगी। अपने सद्गुरुदेव और इष्ट का सहारा सब योग मार्ग के साधकों को ऐसा सम्बल हो सकता है जो उन्हें पथ से विचलित नहीं होने देगा, जरूरत है सावधान और जाग्रत रहकर इस सम्बल को सतत् पकड़े रहने की। **'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'** यह उपनिषद् का ऋषि सूक्त भी सबको सदा स्मरण रखना चाहिए। कामनाओं और तृष्णाओं की रपटीली भूमि से बचकर तो चलना ही होगा। इसके लिए नचिकेता का यह वाक्य भी **'नहिं वित्तेण तर्पणीयो मनुष्यो'** अर्थात्–धन से मनुष्य की तृप्ति कदापि नहीं हो सकती, सबको सदा याद रखना होगा। अगर इतना तुम सब कर सकोगे तो निश्चय ही तुम सर्व समर्थयोगी जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर लोगे।

❋❋❋

● सम्पादकीय

अतपस्वी को योग सिद्ध नहीं होता

आचार्य (डा०) रामलाल ब्रह्मचारी

तप का योग साधना में बहुत महत्व है। सृष्टि में तप बल से ही ब्रह्मा जी सृष्टि रचना का सामर्थ्य पाते हैं। विष्णु जी तप बल से सृष्टि पालन करते हैं तथा भगवान् शिव सृष्टि का संहार करते हैं। प्राचीन काल से ही ऋषि–मुनियों और योगियों ने तप बल से अलौकिक कार्य कर दिखाये हैं। इस लोक में भी अभ्युदय अर्थात् लौकिक उन्नति के लिए तप की आवश्यकता होती है। देश में जो बड़े–बड़े पदों पर आसीन हैं वह भी तप के कारण ही हैं। 'तपसा चीयते ब्रह्म' तप के द्वारा ही ब्रह्मदर्शन होता है। 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवाः मृत्युमुपाघ्नत' ब्रह्मचर्य एवं तप के द्वारा ही देवताओं ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की है। श्रीमद्भगवद्गीता में अठारहवें अध्याय में भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी महाराज कहते हैं–'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' अर्थात् यज्ञ दान एवं तप मनीषियों को पवित्र करते हैं इसलिये मनुष्य को जीवन पर्यन्त इन का आचरण करते रहना चाहिए। योग जैसे दुर्बोध्य एवं दुर्गम विद्या की प्राप्ति में तप का महत्व क्योंकर न हो ?

पातञ्जल अष्टांग योग में तप का विशेष महत्त्व है। सर्वप्रथम यम–नियम के अन्तर्गत नियम में शौच संतोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान का निरूपण किया गया है। आगे साधन पद में प्रथम सूत्र के द्वारा क्रियायोग का वर्णन करते हुए तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान को प्रमुख साधना के रूप में माना है। जिनकी चित्तवृत्ति चंचल है किन्तु योग साधना में प्रवेश एवं विकास चाहते हैं उनके लिये यह क्रियायोग अथवा साधन योग ही उपाय है। इस उपाय का जो अवलम्ब लेता है उसे ही उपाय प्रत्यय वाला योगी कहते हैं। ईश्वर प्रणिधान को योग अथवा समाधि प्राप्ति का एक साधन पतञ्जलि जी महाराज ने माना है। ईश्वर प्रणिधान तक पहुँचने के लिये साधक को पहले तप और स्वाध्याय की साधना करनी होती है।

तप का फल बताते हुये महर्षि पतञ्जलि जी महाराज लिखते हैं–**कायेन्द्रियसिद्धि रशुद्धिक्षयात्तपसः**' अर्थात् तप के द्वारा अशुद्धि के क्षय हो जाने से कायिक और ऐन्द्रिय सिद्धि मिलती है। कायिक सिद्धि के अन्तर्गत काय का वज्रवत होना, सर्दी गर्मी, भूख प्यास को सहन करने की अद्भुत क्षमता का होना तथा ऐन्द्रिय सिद्धि के आ जाने पर दूरदर्शन व दूरश्रवण की क्षमता का आ जाना होता है। योगी दूर–दूर की वस्तुओं को देख लेता है तथा दूर की बातों को सुन लिया करता है। वस्तुतः ये सिद्धियाँ देवलोक के वासियों को स्वभावतः प्राप्त रहती हैं। उपनिषदों में इस विषय में कहा गया है–''शृण्वन् श्रोत्रम् भवति,

पश्यन् दृग् भवति'' अर्थात् इस देव लोक के वासियों को सुनने की इच्छा होते ही श्रोत्र उपलब्ध हो जाते हैं। देखने की इच्छा होते ही आँखें हो जाती हैं। इसी प्रकार से पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार बिना इन्द्रिय गोलक के होने लगता है।

गुरुदेव के तपस्वी योगी साधकों में मोहनलाल टाटबाबा के नाम के साधक थे वे गुरुदेव को बतलाया करते थे कि उन्हें खुली आँखों देवलोक के दर्शन होते हैं। जिस किसी को भी देखने की इच्छा होती थी वह दूर दर्शन की सिद्धि से देख लिया करते थे। इस प्रकार से जो तपप्रधान योगी होते हैं उनमें भी इस प्रकार की अतीन्द्रय क्षमतायें देखी जाती है। प्राणायाम को सबसे बड़ा तप माना गया है। प्राणायाम का भी फल ''ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'' कहा गया है। प्राणायाम से प्रकाश के मार्ग का आवरण हट जाता है परिणामस्वरूप योगी को दिव्य दृष्टि की प्राप्ति हो जाती है। 'तप' की एक परिभाषा व्यास भाष्य में ''द्वन्द्व सहनम् तपः'' कहकर की है अर्थात् सर्दी गर्मी, भूख प्यास आदि द्वन्द्वों को सहन करना तप है। प्राणायाम से शरीर के मल धोये जाते हैं–जिस प्रकार से सुवर्ण आदि धातुओं को अग्नि में तपाकर कुन्दन बना दिया जाता है। इसी प्रकार से कुम्भक आदि प्राणायाम से कफादिमल जल जाते हैं और शरीर निर्मल होकर सतोगुणी हो जाता है। श्रीमद्भगवद् गीता के सत्रहवें अध्याय में भगवान् ने तीन प्रकार के तपों का वर्णन किया है। उनमें शारीरिक तप के अन्तर्गत देवताओं का पूजन ब्राह्मणों की सेवा, गुरुदेव एवं योगियों की चरण सेवा व आराधना, शरीर की शुद्धि तथा स्वभाव की सरलता, ब्रह्मचर्य का पालन तथा अहिंसा भाव पर प्रतिष्ठित रहना बताया है। वाचिक या वाङ्मय तप के अन्तर्गत उद्विग्नता रहित वाणी बोलना, प्रिय तथा सत्य भाषण करना स्वाध्याय एवं गुरुमन्त्र का जप करना वाणी का तप बताया है। मानस तप के अन्तर्गत मन को प्रसन्न तथा सम रखना, सौम्य भाव बनाये रखना, मौन का अवलम्ब लेना तथा मन को नियन्त्रित रखना एवं भाव की शुद्धि मानस तप के अन्तर्गत बताया है। शारीरिक तप के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा को माना है। ब्रह्मचर्य तो सबसे बड़ा तप सर्वविदित है ही अहिंसा व्रत भी कठिन तप है। शारीरिक तथा मानस तप बिना अहिंसा में प्रतिष्ठा संभव नहीं है इसलिये इस तप को यम के अन्तर्गत रखा है।

अपकार करने वाले तथा हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति के प्रति भी मन, वाणी एवं कर्म द्वारा हिंसा न पहुँचाना अहिंसा है। इस प्रकार से वाचिक शारीरिक तथा मानस तप के पालन से योगी में सिद्धियाँ प्रकट होने लगती है जो तपोजा सिद्धियों के अन्तर्गत आती हैं। 'तप' की सार्थकता इसी में है कि योगी अपने चित्त को अन्तर्मुखी बना ले और लम्बे समय तक ध्यानावस्थित रह सके। ध्यान में संस्कार ही मुक्ति की ओर ले जाने वाले होते हैं ध्यानजन्य सिद्धियाँ कर्माशय रहित होती है। 'तत्र ध्यानजमनाशयम्'' ध्यानज संस्कार आशय रहित होने से आत्मदर्शन के हेतु बनते हैं। तपोजा सिद्धियाँ तो देवताओं में भी

स्वाभाविक होती है किन्तु ध्यानज संस्कार दृढ न होने के कारण पुनः संसार चक्र में परिभ्रमण करते रहते हैं। तप के द्वारा साधक अपने शरीर को लम्बे समय तक निरोग रखकर ध्यानाभ्यास कर सकता है।

तप का फल उत्तम लोकों की प्राप्ति है आत्मज्ञान नहीं। तप तो तमोगुणी वृत्ति के व्यक्ति भी करते देखे जाते हैं। दानवों में बड़े–बड़े तपस्वी हुये हैं किन्तु उनका पतन ही हुआ है क्योंकि उनका लक्ष्य आत्मलाभ नहीं था। तपस्या वही सार्थक है जिससे इस लोक में भी सिद्धि समृद्धि मिले तथा परलोक में भी सुख मिले।

योगदर्शन के सूत्रों पर भाष्य करते हुये 'तप' के प्रकरण में व्यास जी महाराज ने कहा है–'नातपस्विनो **योगः** सिद्ध्यति' जो तपस्वी नहीं है उसे योग सिद्ध नहीं हो सकता। यदि ध्यानयोग में प्रवेश मिल भी जाये तो भी असंयमी एवं अतपस्वी व्यक्ति जल्दी ही इस पूँजी को खो बैठता है।

इसलिये साधक को तपोयुक्त जीवन जीकर साधनारत रहना चाहिये। जो असंयमी है उनके लिये भगवान कहते हैं–योग की प्राप्ति कठिन है। किन्तु जो संयमी है आत्मवशी हैं जितेन्द्रिय हैं वे योग मार्ग में सफलता को पा जाया करते हैं।

✲✲✲

स्थितप्रज्ञ या जीवन्मुक्त के लक्षण

(१) जो मन में रहने वाली सभी कामनाओं का त्याग कर देता है।
(२) जो आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट है।
(३) जो दुःखों से घबराता नहीं।
(४) जो सुखों की इच्छा नहीं करता।
(५) जो आसक्ति, भय और क्रोध से मुक्त है।
(६) जो सर्वत्र ममता युक्त स्नेह से रहित है।
(७) जो शुभ वस्तु को पाकर हर्ष से फूल नहीं जाता।
(८) जो अशुभ वस्तु की प्राप्ति से द्वेष नहीं करता।
(९) जो इन्द्रियों को कछुए की भाँति सभी विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी रखता है।
(१०) जो मन, इन्द्रियों को वश में रखकर भगवान के परायण रहता है।
(११) जो मन, इन्द्रियों को नियन्त्रित करके रागद्वेष रहित हो इन्द्रियों से विषयों का शास्त्रानुकूल आसक्ति रहित सेवन करता है।
(१२) जो निर्मल और प्रसन्नचित्त रहता है।
(१३) जो नित्य शुद्ध बोधस्वरूप परमानन्द में निरन्तर जाग्रत रहता है और नाशवान क्षणभंगुर सांसारिक सुखों में सोता रहता है। अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थित और भोगों से उदासीन रहता है।

✲✲✲

रामचरित मानस में गुरुभक्ति

लेखक : वेदव्रत द्विवेदी, उमापुर

प्रातः स्मरणीय सद्गुरुदेव भगवान, योग योगेश्वर योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के चरण कमलों में कोटि–कोटि प्रणाम।

गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ने श्री रामचरितमानस को गुरु भक्ति से ही प्रारम्भ किया है। उन्होंने गुरु–भक्ति की बुनियाद पर रामचरित का भव्य–भवन निर्माण करके समस्त भू–मंडल के समक्ष अपनी कला का सुन्दर प्रदर्शन किया है। संस्कृत श्लोकों में श्री गणपति आदि देवों की वन्दना करते हुए कविवर ने एक विशेष चमत्कार के साथ गुरुतत्व का प्रतिपादन करते हुए भक्त जनता के लिए एक विशेष दृष्टिकोण उपस्थित किया। प्रथम श्लोक में 'वाणी विनायक', दूसरे में 'भवानी शंकर' इस प्रकार दो श्लोकों में चार देवताओं की वन्दना करके तीसरे श्लोक में –

'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकर रूपिणम्।

से गुरुवन्दना करके चौथे श्लोक में 'कवीश्वर बाल्मीकि' एवं 'कपीश्वर हनुमान जी एवं पाँचवे श्लोक में श्रीरामवल्लभा सीता तथा छठे में श्रीराम भगवान–इस प्रकार गुरुवर ने पहले चार देवताओं की और बाद में चार देवताओं की वन्दना से गुरु को सम्पुटित कर दिया है। उन्होंने गुरु को कोई अन्य देव न मानकर साक्षात् कृपासिन्धु 'नररुपहरि' ही माना है।

वन्दऊँ गुरुपद कंज, कृपा सिंधु नर रूप हरि।
महामोह तमपुंज, जासु वचन रविकर निकर।।

और सबसे विचित्र बात यह है कि श्री रामचरित मानस की चौपाई प्रारम्भ गुरु–भक्ति से ही हुआ है।

बन्दौं गुरु पदम परागा।
सुरुचि सुवास सरस अनुरागा।।
अमिय मूरिमय चूरन चारु।
समन सकल भवरुज परिवारु।।
श्री गुरुपद नख मणिगण ज्योति।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।।

(बालकाण्ड) रामचरित मानस

अर्थात् श्री गोस्वामी जी ने प्रथम अपने को गुरु चरणों के योग्य न मानकर केवल पद पराग का ही आश्रय लिया है। और उस पराग रूपी अंजन से नेत्रों को विमल करके 'श्री

गुरुपद नख रूपी मणि की ज्योति से हृदय में दिव्य प्रकाश पाकर ही गुरु चरणों की वन्दना करने को समर्थ हुए हैं। अब उन्हें–

'बन्दौं गुरुपद कंज' कहने में कोई संकोच नहीं है। वास्तव में श्री रामचरित मानस को हृदयग्राही एवं योगपरक आत्ममंथन ग्रन्थ की श्रेणी में ही रखा जाना चाहिए।

क्योंकि श्री रामचरित वर्णन करने के प्रथम गुरु–चरणों के आशीर्वाद का संबल परमावश्यक है। उन्हें इतना विश्वास है कि यदि चतुरानन जो भाग्य लेख लिखते हैं वे भी विपरीत हो जावें, तब भी गुरु भाग्य पलट सकता है। परन्तु सद्गुरु के विपरीत होने पर कोई रखने वाला नहीं–

राखै गुरु जो कोप बिधाता।
गुरु विरोध नहिं कोऊ जगत्राता।।

अब श्री रामचरित मानस के आराध्यदेव मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री राम की गुरु–भक्ति अवलोकनीय है। महर्षि विश्वामित्र से बला–अतिबला आदि अनेक विद्या प्राप्त करके, उनकी जिस प्रकार सेवा करते हैं, वह मानव मात्र को अनुकरणीय है। जनकपुर के उस परमरम्य आराम में निवास करते हुए उनकी सेवा भावना पराकाष्ठा को प्राप्त हो रही है, उस पर भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति को गर्व होना चाहिए।

मुनिवर सयन कीन तब जाई।
लगे चरण चापन दोऊ भाई।।
जिनके चरण सरोरुह लागी।
करत विविध जप जोग विरागी।।
ते दोऊ बन्धु प्रेम जनु जीते।
गुरुपद कमल पलोटत प्रीते।।
बार बार मुनि आज्ञा दीन्हीं।
रघुवर जाय सयन तब कीन्हीं।।

इसे कहते हैं लोकादर्शी समाज का नेतृत्व करना साधारण कार्य नहीं। स्वयं कर्मठ बनकर विश्व को शिक्षा दी जा सकती है, केवल मौखिक ही नहीं। इसका प्रभाव यह होता है कि विशिष्ट व्यक्ति के क्रियाकलाप का अनुकरण समाज स्वयं करता है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।

श्री राघवेन्द्र अपने गुरुवर का आदर इतना करते हैं कि कोई आज्ञा माँगने में भी उन्हें संकोच होता है, जब तो शिष्य के मनोभाव समझने वाले गुरुवर स्वयं कहने के लिए आज्ञा देते हैं, तब भी–

परम विनीत सकुचि मुसकाई।
बोले गुरु अनुशासन पाई।।

तब कहीं अपने मन के भाव व्यक्त करते हुए नगर दर्शन की आज्ञा मांगते हैं।

यहाँ तक कि लंकापति रावण जैसे प्रबल शत्रु को पराजित करने का समस्त श्रेय गुरु–कृपा को ही देते हैं।

गुरु वशिष्ठ कुल पूज्य हमारे।
इनकी कृपा दनुज रण मारे।।

धन्य है, ऐसी गुरु भक्ति। श्री राघव ने अपने भक्तों के ह्रदय में निवास करने का जो नियम बनाया, वह महर्षि वाल्मीकि के इन्हीं आज्ञामय शब्दों पर ध्यान दीजिए।

तुमते अधिक गुरुहि जिय जानी।

संसार के समुद्र में मानव देह ही नौका है, जिसमें कर्णधार गुरु हैं। भागवतकार श्री व्यासदेव का यह कथन अक्षरशः सत्य है–

नृदेह माद्यं सुलभं सुदुर्लभं,
प्लवं सुकल्पं गुरु कर्ण धारम्।
मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरितं,
पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा।।

इसका अर्थ यह हुआ कि गुरु एक सच्चा नाविक है, जो हमें भवसागर से पार करता है।

एक सन्त ने तो कहा है कि गुरु कुम्भकार है जो शिष्य रुपी हाँडी को सुडौल करता है, और ऊपर से थापी की मार मारता है, अन्दर दया का हाथ लगाये है।

दूसरे सन्त ने कहा–नहीं जी सद्गुरु एक धोबी है, जो शिष्य रुपी वस्त्र का सारा मैल साफ कर देता है। धोबी जैसे कपड़ा को सौंदता है पाटे से पीटता है, देखने में कपड़ों पर कष्टमय कार्य हो रहा है, परन्तु अन्त में वह महान निर्मल होकर आदर के साथ धारण किया जाता है, ऐसे ही साधना रुपी कष्ट क्षणिक देकर शिष्य की आत्मा को निर्मल बनाकर भगवान से मिला देना गुरु का कार्य है।

परन्तु गोस्वामी दास ने लिखा है कि प्राणी रोगी है, उनके रोगों को दूर करने के लिए सद्गुरु वैद्य बनकर रोग मुक्त करते हैं अतः उनके अमृतमय वचनों पर विश्वास किया जाय यह परमोचित है।

सद्गुरु वैद्य वचन विश्वासा।
संयम यह न विषय की आशा।।

परन्तु हमें तो सर्वतोभावेन यही सिद्धान्त उत्तम जँचता है, कि गुरु साक्षात शंकर है।

'कृपा सिन्धु नर रूप हरि'।

***

आत्म ज्ञान

–जनक कुलश्रेष्ठ, ग्वालियर

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्व दर्शिन।।

प्रणिपात हुए तत्वदर्शी एवं ज्ञानी गुरु अपने शिष्य को अन्वय और व्यतिरेक विधि से उपदेश देते हैं।

तैतीरियोपनिषद् में भी ब्रह्म को जानने के लिए इन्हीं दो विधियों का आश्रय लिया है।

इस उपनिषद् में वरुण पुत्र श्री भृगु ने अपने पिता से ब्रह्म तत्त्व जानने की जिज्ञासा प्रकट की थी। पिता ने अन्वय विधि से उपदेश देते हुए कहा **"अयमात्मा ब्रह्म"**। किन्तु भृगु की समझ में नहीं आया। तब पिता ने भृगु को तप और स्वाध्याय करने का आदेश दिया। पिता की आज्ञानुसार पुत्र ने तप किया। और बहिर्मुखी होने के कारण उसने सर्वप्रथम स्थूल जगत से सम्बन्धित स्थूल शरीर का साक्षात्कार किया। स्थूल शरीर की उत्पत्ति अन्न से होती है; क्योंकि अन्न से रजवीर्य बनता है। माता–पिता के रज–वीर्य के संयोग से शरीर की उत्पत्ति होती है। अतः भृगु ने अन्न को ही ब्रह्म जाना और पिता से कहा कि अन्न ही ब्रह्म है। पिता ने कहा कि ब्रह्म अविकारी है। उसकी क्षय–वृद्धि नहीं होती है। शरीर विकारी है। इसकी उत्पत्ति, वृद्धि फिर नाश होता है। अतः शरीर ब्रह्म नहीं हो सकता है। इसलिये ब्रह्म तत्व को जानने के लिए पुनः तप–स्वाध्याय करो।

पुनः साधना करने से कुछ–कुछ अन्तर्मुखता के उत्पन्न होने से भृगु ने जाना कि प्राण ही ब्रह्म है; क्योंकि प्राण–विहीन शरीर किसी अर्थ का नहीं रहता है। जब तक प्राण है तभी तक शरीर क्रियाशील रहता है। पिता ने बताया कि प्राण शरीर में गमन करता है। वह श्वास–प्रश्वास के साथ शरीर के बाहर भीतर गमन करता है। प्राण गमनशील है और ब्रह्म स्थिर और अचल है। वही कहीं भी गमन नहीं करता है। वह सर्वव्यापी होने से गमन रहित है। अतः प्राण भी ब्रह्म नहीं है।

भृगु ने पुनः तप करने पर और सूक्ष्म हुई बुद्धि से जाना कि मन ही ब्रह्म है। पिता ने कहा कि मन संकल्प–विकल्प करता है। अतः मन ब्रह्म नहीं हो सकता। मन अति चंचल है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म कूटस्थ और संकल्प–विकल्प रहित है। ब्रह्म संकल्प तो होता है पर वह पूर्णतः विकल्प रहित है। वह किसी भी वस्तु के अभाव में किसी विकल्प की खोज नहीं करता है। अतः मन भी ब्रह्म नहीं है।

पुनः तप करने पर भृगु ने बुद्धि को ब्रह्म जाना, परन्तु बुद्धि संकल्प–विकल्प के बीच निर्णय करती है कि अमुक कार्य करना उचित है या अनुचित। यह विशेष ज्ञान होने से विज्ञानमय कोश कहलाता है। निश्चयात्मकता होने से बुद्धि ब्रह्म तो हो सकती है, परन्तु स्वार्थ के चक्कर में पड़कर यह अनर्थ के कार्य कर बैठती है। ब्रह्म में स्वार्थपरता नहीं होती है। उसमें परार्थता होती है। उसकी जीवों के कल्याण हेतु अहेतुकी कृपा होती है। अतः बुद्धि भी ब्रह्म नहीं है।

इसके आगे की साधना करने पर भृगु की आनन्दमय कोश में स्थिति हो जाने से उसने आनन्द को ही ब्रह्म माना। पिता ने कहा कि आनन्द भी दो तरह का होता है। (१) साधन सिद्ध आनन्द। (२) स्वतः सिद्ध आनन्द। साधन सिद्ध आनन्द करण सापेक्ष होता है और स्वतः सिद्ध आनन्द करण निरपेक्ष होता है। साधन सिद्ध आनन्द मन से सम्बन्धित है। मन प्रकृति का अंश होने से विकारयुक्त है। अतः मन (करण) से प्राप्त किया हुआ आनन्द स्थायी नहीं होता है तथा मन विकारी होने से पाप–शाप आदि अनैतिक कार्यों से भी आनन्दित होने से यह आनन्द भी ब्रह्म नहीं है; क्योंकि यह स्वतः सिद्ध आनन्द नहीं है। स्वतः सिद्ध आनन्द आत्मा, जो ब्रह्म का ही अंश है, में सदैव स्थित है। आत्मा सत, चित और आनन्दस्वरूप है। यही आत्मानन्द वास्तविक आनन्द कहा जाता है। इसी को प्राप्त कर लेने पर फिर किसी अन्य आनन्द को प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं रह जाती है। यहाँ सारे प्रपंच समाप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार समझाने पर भृगु ने जाना **"अयमात्मा"** ही ब्रह्म है।

इस प्रकार तैत्तिरियोपनिषद में वरुण ने अपने पुत्र भृगु को पंच कोशों के माध्यम से ब्रह्म का होना बताया।

(क्रमशः)

अभिनो वाजसातमं रयिमर्ष शतस्पृहम्।
इन्दो सहस्त्रभर्णसं तु विद्युम्नं वि भास हम।।

—ऋग्वेद

हे जीवात्मन् ! तू परमेश्वर को प्राप्त कर जो हमें अन्न, ज्ञान और बल देता है, सबका भरण-पोषण और रक्षण करने वाला है, जिसका ऐश्वर्य और यश अपार है जो बड़ों-बड़ों के अहंकार को पराजित करने वाला है।

गुरुदेव तुम्हारे दर्शन को....

–जगदीश बंसल राव ''अधम'' DCM गोहाना मंडी

गुरुदेव तुम्हारे दर्शन को, मेरे मन में तड़फना रहती है
बार–बार याद करूँ मैं कभी न सफलता मिलती है।

जब ध्यान करूं गुरुदेव तुम्हारा, नहीं दिखाई देते हो
याद करूं तन्द्रा आवे, कभी न सामने आते हो
क्या खोट भरा है मेरे मन में, क्यों न तृप्ती होती है। गुरुदेव

मन्त्र जप ली, माला पढ़ ली, आपका तो कोई पता नहीं
संपाई ढूंढा, अलूपुर ढूंढा, निराशा का कोई अन्त नहीं
मुझको अपना पता बताओ, गाड़ी कहाँ से चलती है। गुरुदेव

भागवत कर ली, रामायण पढ़ ली, नही आप पधारे हो
चार धाम की यात्रा कर ली, कहाँ पर रूप छिपाये हो
हर की पौड़ी खोज लिया, ना गंगा मैय्या बताती है। गुरुदेव

मथुरा काशी ढूंढ लिए, कही पर दर्शन नहीं पाया,
समझ सका ना कहाँ पर जाऊँ अद्भुत है शिवा तेरी माया
इच्छा पूरी करो गुरुजी, मेरे मन में टीस जो रहती है। गुरुदेव

ब्रह्मा विष्णु शिवशंकर, और गुरुतत्व में भेद नहीं
नैय्या पार लगा दो दाता, और कोई मेरा आधार नहीं
दया की दृष्टि मिल जाए तो, अधम को शान्ति मिलती है। गुरुदेव

✲✲✲✲✲✲

प्रार्थना

रचना : **ओमप्रकाश, शशि प्रभा मित्तल**, कनखल (हरिद्वार)

जय प्रभु रामलाल योगेश्वर
हरि हर ब्रह्म रूप सर्वेश्वर।।
घट घट में है वास तुम्हारा,
धरते मुनि जन ध्यान तुम्हारा।
सिद्धगुफा वासी परमेश्वर। जय प्रभु ....
भागवन्ती नंदन नाम तुम्हारा,
श्री गंडाराम सुत 'प्रभु' हमारा।
सुर नर मुनि वंदित अखिलेश्वर। जय प्रभु...
कुन्डलिनी शक्ति के स्वामी,
परम् तत्व प्रभु अन्तर्यामी।
हे भक्तेष्ट पूर्ण विश्वेश्वर। जय प्रभु...
श्री चन्द्रमोहन मम गुरुवर स्वामी,
हे 'तरफ' दिवाकर तुम्हें नमामी।
भाग्य विधाता हो "तरफेश्वर"। जय प्रभु...

❀❀❀

शोक संवेदना

बड़े दुःख के साथ सूचित करना पड़ रहा है कि हमारे वरिष्ठ गुरुभाई श्री आत्माप्रसाद सिंह एडवोकेट (वाराणसी) का ८ मई को देहावसान हो गया है। वे ७८ वर्ष के थे। १९७२–७३ में श्री गुरुदेव के चरण कमलों से जुड़े और योग दीक्षा प्राप्त की। गुरु आज्ञा को मानकर प्रतिदिन तीन घण्टे ध्यानाभ्यास में बैठने का उनका नियम आजीवन चला। ध्यान में अनेक दिव्यानुभूतियाँ होती थीं। वे अनुभूतियाँ सब सत्य होती थीं। वे एक योगनिष्ठ गुरुभक्त योगी–साधक थे, आने वाले सभी साधकों के लिये वे प्रेरणास्रोत हैं। सन् १९७५ के पश्चात् वाराणसी में उनके नदेसर के मकान में ही गुरुदेव का योग प्रचार कार्यक्रम वे रखते थे। सन् १९९० तक यह क्रम चलता रहा।

बहुत से योग जिज्ञासुओं को गुरु चरणों से जोड़ने का महापुण्य उनको मिला। सिद्धयोग परिवार एवं आश्रमवासी इस महान दुःख के अवसर पर दुःखी आत्मीय जनों के साथ इस दुःख में सहभागी हो रहे हैं। श्री प्रभु जी उन्हें अपने अभय चरण कमलों में स्थान दें यही प्रार्थना है।

—सम्पादक

योग और साधना का सच्चा अर्थ

दृष्टिकेतु सिंह 'पुंढीर' (अलीगढ़)

गुरु, शक्तिपथ के माध्यम से एक व्यक्ति को साधना के मार्ग पर संस्कारित करता है। इस प्रक्रिया को विशाल ऊर्जा की आवश्यकता होती है जो सद्गुरु से शिष्य को स्थानान्तरित होती है। यदि यह ऊर्जा उन व्यक्तियों की तरफ किसी तरह से भेजी जाती है जिन्हें इसकी कोई आवश्यकता नही है तो ऊर्जा तितर–बितर हो जाती है।

इसलिए कहा जाता है कि ज्ञान उन व्यक्तियों को नही बाँटना चाहिए जो इसे महत्व नही देते हैं। यही बात उन मनुष्यों के विषय में कही जा सकती है जो धर्मोपदेश सुनने आते है, ज्ञान लेने नहीं बल्कि इसका विरोध करने आते हैं। ये व्यक्ति खोज नही कर रहे हैं। ये प्रेरक की ऊर्जा पर नाली के समान हैं और मानव जाति के विकास के लिए अच्छे नहीं है जो शक्तिपथ का ध्येय हैं।

योग का अभ्यास सामाजिक वाद–विवाद का विषय बन गया है। घोषणा करना फैशन हो गई है, "मैं योग करता हूँ"। उन व्यक्तियों की कमी नही है जो स्वार्थी कारणों से योग मास्टर्स का दावा करते है। एक व्यक्ति को समझने की जरूरत है कि योग गाँठों में बांधना नही है अथवा अपने सिर के बल खड़ा होना नही है। योग व्यक्ति के विकास का पूर्ण विज्ञान है। जिसका शारीरिक केवल शुरुआत है। यदि ऐसा न होता तो झूलते हुए डंडे पर कसरत करने वाले कलाकारों को योग गुरु पुकार रहे होते। यह देखना बड़ा आश्चर्यजनक है कि लोग आज व्यक्तियों को उनकी क्षमता का बिना ध्यान दिये हुए टेलीविजन पर हर व्यक्ति को योग शिक्षा दे रहे हैं। व्यक्ति कुछ अभ्यासों को बता रहे हैं जो आज जनता में फैशन बनती जा रही है।

ये अभ्यास अभ्यासी का क्षणिक फायदा कर सकते हैं और कुंडलिनी जागरण में व्यवधान डाल सकते है। कुंडलिनी को यदि अनियंत्रित तरीके से जगाया जाय तो शरीर पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है क्योंकि एक सामान्य शरीर इस शक्ति को सहन करने की क्षमता नहीं रखता है। यह अभ्यास केवल नाम, ख्याति और धन कमाने के लाभ से दिखाए जाते हैं।

ये अभ्यास अध्यापक या साधक दोनों के हित में नही होते हैं। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि योग के अविवेकी अध्यापक नकारात्मक कर्मों को नही समझते हैं जो परिणाम के रूप में स्वयं के लिए कमाते हैं। वे माया के जाल में फँस जाते हैं जैसा पातंजलि योग सूत्र में वर्णन किया गया है।

एक वास्तविक साधक ऐसे लापरवाह कार्यों में नही लगेगा। आधुनिक तरीके योग जैसे

पवित्र रास्ते को एक हास्य बना देते है। माया के चंगुलों से अलग रहना बड़ा कठिन होता है। केवल वही जो सतगुरु का हाथ पकड़ते हैं वास्तव में साधना के मार्ग पर चलते हैं। इसलिए सच्चे गुरु और साधकों को पाना कठिन होता है।

जब एक गुरु किसी को एक शिष्य के रूप में स्वीकार करता है तो वह पूरा उत्तरदायित्व लेता है। शिष्य की सुरक्षा गुरु द्वारा हर क्षण की जाती है। इसलिए प्राचीन समय में गुरु थोड़े शिष्य रखते थे। सर जोन वुडरोफ एक ख्याति प्रापत तंत्र के साधक और अभ्यासी थे। ये १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुए। उन्होंने इस बात को समझा। वह कहते हैं, "पुराने समय मे गुरु १०–१५ शिष्यों को अपने सम्पूर्ण जीवन में दीक्षा दिये करते थे। एक व्यक्ति को प्रेरित करने में बहुत ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है और ऊर्जा को प्राप्त करने के लिए ज्यादा अभ्यास की जरूरत होती है।"

ज्ञान ऊर्जा है जो केवल उनकी तरफ बहती है जो योग के अभ्यासों को समझने की क्षमता रखते है। इसलिए जीवन में सद्गुरु की परम आवश्यकता होती। बिना सद्गुरु के उच्च लोकों में प्रवेश नहीं किया जा सकता है। इसलिए कहा गया है–

जाकी गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध।
अंधे अंधा ठेलियों, दोन्यों कूप पडंत।।

❁ ❁ ❁

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत। (छान्दोग्य० ३/१४/१)

यह सब ब्रह्म ही है। ब्रह्म से ही जगत उत्पन्न होता है, ब्रह्म में ही विलीन होता है और ब्रह्म में ही चेष्टा करता है। शान्त (संयत) होकर ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। पुरुष कर्ममय है। इस लोक में जैसा कुछ कर्म करता है, मरने के बाद परलोक में वह वैसा ही होता है। इसलिये सत्कर्म का अनुष्ठान करना चाहिये।

ध्यान योग

प्रेषक–डा० जे० एन० राय, ठेकमा (आजमगढ़)

गीता में "योग" जहाँ भी आया है, उसे 'कर्मयोग' से ही समझा गया है। ध्यान में कर्म निहित है। कर्म बिना ध्यान संभव नहीं।

ध्यान के लिये मन का शान्त होना आवश्यक है। कर्म में आराधना का भाव ध्यान में बहुत सहायक होता है। दैनन्दिन क्रियाकलापों के बीच–बीच में भगवत् स्मरण मन में प्रवेश करने का प्रयास कर रहे अनेक विक्षेपकारी विचारों को रोकने में सहायक होता है। श्रीकृष्ण भगवान का कथन गीता में है–

हे अर्जुन ! मन को निरन्तर परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ स्वाधीन मन वाला योगी मेरे में स्थिति रूप परमानन्द पराकाष्ठा वाली शान्ति को प्राप्त होता है।

मन चंचल है। मन को स्थिर करने के लिए ध्यान का सतत् अभ्यास परमावश्यक है। ध्यान में जप और प्रार्थना का महत्वपूर्ण स्थान है। ध्यान में दृढ़ निश्चय एवं नियमानुवर्तिता ही साधक को अपने गन्तव्य तक पहुंचाने में सहायक होते हैं। नियत समय एवं नियत स्थान ही ध्यानी साधक को चरमोत्कर्ष पर ले जाता है। इससे ध्यान योगी में आत्मसंयम एवं अच्छे संग की अवधारणा प्रबल होती जाती है।

ध्यान के अभ्यास में यम–नियम–आसन–प्राणायाम–प्रत्याहार के पथ से गुजरना साधक के लिये हितकारी होता है क्योंकि यम (अहिंसा–सत्य–अस्तेय–ब्रह्मचर्य–अपरिग्रह) तथा नियम (शौच–संतोष–तप–स्वाध्याय–ईश्वर प्रणिधान) से साधक में संयम एवं सद्वृत्तियों की जड़ सुदृढ़ हो जाती है।

उपरोक्त पृष्ठभूमि में कुछ आवश्यक निर्देश भी साधक को ग्रहणीय है। सर्वप्रथम किसी नियत स्थान पर सहज आसन में साधक सीधे बैठे तथा पीठ, गर्दन और सिर को एक सीध में रखे। साधक शुद्ध संकल्प के साथ मूलाधार में मन स्थिर कर विचार करे कि मैं नित्यानन्द स्वरूप, आत्मसंतुष्ट, स्वयं ज्योति एवं सत्य स्वरूप हूँ। प्राणायाम में श्वास–प्रश्वास की कई विधियां हैं। सुविधानुसार कोई भी विधि साधक के ध्यानाभ्यास में उपयोगी है। पूरक–कुम्भक व रेचक ४–१६–८ के अनुपात में की जाती है। यह कुण्डलिनी जागरण में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। ध्यानाभ्यास में भगवन्नाम जप या मंत्रजाप वाचिक, उपांशु एवं मानस रूप में किया जाता है। जप एवं ध्यान का क्रम ध्यानाभ्यास के प्रवाह को

दृढ़ता प्रदान करता है।

ध्यान योग में कतिपय बाधायें भी हैं जो ध्यानाभ्यास में विघ्नकारक होती हैं। स्वस्थ मन, स्वस्थ शरीर ही ध्यान के साधना पक्ष में उपकारी है। शारीरिक–रोग–व्याधि से ग्रसित साधक को ध्यानाभ्यास में कठिनाई उठानी पड़ती है। किन्तु साधक के प्रबल संकल्प रोग–व्याधि को भी हलका कर देते हैं। इसी प्रकार स्त्यान, प्रमाद, आलस्य, निद्रा, संशय, भ्रान्ति दर्शन आदि बाधायें हैं, इन पर भी ध्यानयोगी अपने ध्यान के सतत अभ्यास के बल पर अपनी विजय पताका फहराने में सफल हो जाता है।

❊ ❊ ❊

सिद्धगुफा तक पाँचवीं पदयात्रा

योग योगेश्वर ... प्रभु श्री रामलाल जी महाराज के जन्म दिवस चैत्र नवमी पर श्री सिद्धगुफा संवाई पर आयोजित होने वाले धार्मिक ३ दिवसीय उत्सव में भाग लेने आगरा पंजाबी बाग योग साधना केन्द्र के अध्यक्ष बलबीर सिंह एडवोकेट सपत्नीक श्रीमती राजकुमारी अभियोजन अधिकारी आगरा कु० शैलेन्द्र सिंह, अभयपाल सिंह उनकी धर्मपत्नी श्रीमती मालयती एवं तुलसी बाग आगरा के विजय सिंह राठौर अपने सपुत्र संजय कुमार के साथ शक्तिपात गुफा पंजाबी बाग में आरती पूजन के बाद प्रातः ५ बजे पैदल चलकर १०–३० बजे श्री सिद्धगुफा संवाई धाम पर पहुंचे और वहां श्री प्रभु जी का पूजन किया। श्री सिंह की श्री सिद्ध गुफा संवाई धाम की यह पांचवी पद यात्रा है।

भूल सुधार–गत अप्रैल २००६ के अंक में भाव प्रसून नामक रचना श्री मोतीलाल कासगंज (एटा) के नाम से प्रकाशित हो गई है। वास्तव में यह रचना सन् २००४ में सिद्धगुफा के मई अंक में प्रकाशित हो चुकी है, जिसकी रचयिता श्रीमती सीता भारद्वाज हैं। इस त्रुटि का हमें खेद है।

–सम्पादक

वंश-परम्परा और सूर्यवंश

(गतांक का शेष)

प्राण-प्रक्रिया के साथ मनुष्यचरित का सांकर्य

पुराणों की यह प्रक्रिया है कि प्राण अथवा प्राणजन्य पिण्डों के साथ ही मनुष्य का चरित मिला दिया जाता है। पुराणों में प्राण या प्राणजनित पिण्डों का विवरण प्रायः ब्राह्मण-ग्रन्थों के ही आधार पर है। सूर्यवंश के आरम्भ में भी उसी प्रक्रिया का अवलम्बन किया गया है। उनमें तेज के पिण्डरूप सूर्य और सोमघन-रूप चन्द्रमा की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।

सूर्य की पाँच पत्नियाँ–सूर्य की पाँच पत्नियों का वर्णन पुराणों में मिलता है–प्रभा, संज्ञा, रात्रि (राज्ञी), वडवा और छाया। इनमें अपनी पुत्री संज्ञा को त्वष्टा ने सूर्य को प्रदान किया था। उसके वैवस्वत मनु, यम और यमुना नाम की तीन सन्तानें उत्पन्न हुईं। संज्ञा अपने पति सूर्य का तेज सहन नहीं कर सकती थी। अतः अपने को अन्तर्हित कर देने का विचार करने लगी। उसने अपने ही रूप की छाया नामक एक स्त्री को उत्पन्न किया और उसे अपने स्थान पर रखकर स्वयं वडवा बनकर सुमेरु प्रान्त में चली गयी। जाते समय उसने छाया से कहा–'इस रहस्य को सूर्य से प्रकट मत करना।' छाया ने कहा–'सूर्य जब तक मेरा केश पकड़कर न पूछेंगे, तब तक मैं नहीं कहूँगी।' बहुत काल तक इस रहस्य का भेद नहीं खुल सका और सूर्य छाया को 'संज्ञा' ही समझते रहे। रूप, गुण और व्यवहार में छाया संज्ञा के समान ही थी, अतः 'सवर्णा' नाम से भी अभिहित हुई। छाया के सावर्णि मनु, शनैश्चर, ताप्ती नदी और विष्टि नाम की चार संतानें उत्पन्न हुईं।

कुछ समय बीतने पर छाया अपनी सन्तानों से अधिक प्रेम करने लगी और अपनी सपत्नी की सन्तानों का तिरस्कार करने लगी। इस विषमता को वैवस्वत मनु सहन नहीं कर सके और सूर्य से शिकायत की–'माँ छाया, हममें और शनैश्चर आदि में भेद का व्यवहार करती हैं।' तत्पश्चात् सूर्य ने अपनी पत्नी छाया से इसका कारण पूछा। छाया की ओर से जब यथार्थ उत्तर नहीं मिल सका तो सूर्य ने क्रोध में आकर उसके माथे का बाल पकड़ लिया और डाँटते हुए ठीक-ठीक बात बतलाने के लिये उसको बाध्य किया। छाया ने अपनी पूर्वप्रतिज्ञा के अनुसार संज्ञा वाली बात का रहस्य प्रकट कर दिया और कहा–'आपकी वास्तविक पत्नी संज्ञा अपने स्थान में मुझे रखकर वह स्वयं वाडवारूप धारण करके चली गयी है।' इस रहस्य को जानकर सूर्य ने अश्व का रूप धारण किया और संज्ञा को ढूँढने निकल पड़े। ढूँढने के क्रम में संज्ञा सुमेरु-प्रान्त में मिली और सूर्य ने अपने अश्व रूप से ही उसके साथ समागम किया। इस समागम के फलस्वरूप वडवा-रूपधारी संज्ञा के 'नासत्य' और 'दस्र' नाम की दो सन्तानें उत्पन्न हुईं, जो 'अश्विनी' में उत्पन्न होने

के कारण 'अश्विनीकुमार' नाम से देवताओं की गणना में प्रसिद्ध हैं। फिर त्वष्टा ने सूर्य को अपने सानपर चढ़ाकर इनका बेडौल रूप हटाया और सुन्दर शुद्ध रूप बना दिया। तत्पश्चात् पुनः संज्ञा सूर्य के पास आ गयी।

इन विषयों का प्रतीकात्मक आशय यह है कि सूर्यमण्डल के चारों ओर प्रभा व्याप्त होती है और सर्वदा सूर्य के साथ रहती है। अतः उसे सूर्य की पत्नी और सहचारिणी कहा गया है। उस प्रभा से ही प्रातःकाल होता है, इसीलिये 'प्रभात' को प्रभा का पुत्र बताया गया है। सूर्य के अस्ताचल चले जाने पर ही रात्रि होती है, जिसका सम्बन्ध सूर्य से होता है। अतः रात्रि को सूर्य–पत्नियों में गिना गया है। सूर्य का जब प्रकाश फैलता है तो छप्पर या खिड़की आदि के छोटे–छोटे छेदों में रेणुकण उड़ते हुए दीखते हैं। वही 'सुरेणु' के नाम से अभिहित हैं और सभी प्राणियों में संज्ञा, अर्थात् चेष्टा सूर्य से ही प्राप्त दीख पड़ते हैं। इसीलिए श्रुति का कथन है–'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः' अर्थात् सूर्यपिण्ड ही सारी सृष्टि में प्राण–रूप से उदित हैं। इसीलिये संज्ञा सूर्य की सहचारिणी है, जिसे पुराणों में सूर्य की पत्नी कहा गया है। त्वष्टा सभी प्राणरूप देवताओं के भिन्न–भिन्न स्वरूपों के संगठन का कारण बनता है।

'विशकलित', अर्थात् प्रकीर्ण भाव से बिखरे हुए सभी प्राण त्वष्टा–रूप प्राणशक्ति से ही संगठित होकर अपना रूप ग्रहण करते हैं। यही कारण है कि त्वष्टा भी प्राणियों की चेष्टा (संज्ञा) में कारण बनता है। अतः संज्ञा को त्वष्टा की पुत्री भी बतलाया गया है। पृथ्वी पर सीधे आने वाले सूर्य के प्रकाश का ही 'संज्ञा' या प्रभा नाम शास्त्रों में कहा गया है। जो प्रकाश किसी भित्ति आदि से रुककर तिरछे आता है, वह 'छाया' या 'सवर्णा' नाम से अभिहित है। स्मरण रहे कि जहाँ हम छाया देखते हैं, वहाँ भी सूर्य का प्रकाश अवश्य है। वहाँ सूर्य की किरणें भित्ति आदि से प्रतिहत होकर आती हैं–सीधी नहीं आतीं। अतः इसका नाम 'छाया' या 'सवर्णा' रखा गया। सूर्य का तेज सहन न करने के कारण 'संज्ञा' अपने स्थान में 'छाया' या 'सवर्णा' को रखकर चली गयी। संज्ञा से पहले वैवस्वत मनु उत्पन्न हुआ एवं 'सवर्णा' या 'छाया' से 'सावर्णि' मनु का जन्म हुआ– इत्यादि बातों का यही आशय है कि सीधी किरणों से जो अर्द्धेन्द्र बनता है, वह 'वैवस्वत मनु' और प्रतिहत किरणों से बनने वाला अर्द्धेन्द्र 'सावर्णि मनु' कहा जाता है। मनु की उत्पत्ति का वैज्ञानिक विवरण पुराण–परिशीलन के द्वितीय खण्ड में मण्डलों की उत्पत्ति के प्रसंग में किया गया है।

यम की उत्पत्ति सूर्य से हुई है–इसका तात्पर्य यह है कि सूर्यमण्डल से ही प्राप्त होने वाली सभी प्राणियों की आयु जब किसी शक्ति से विच्छिन्न होकर टूट जाती है तब प्राणियों की मृत्यु होती है। सूर्य और उससे उत्पन्न होने वाली आयु को परस्पर विच्छिन्न करने वाली शक्ति का नाम ही 'यम' है। यह यम–रूप शक्ति भी कहीं बाहर से नहीं आती, अपितु सूर्य से ही उत्पन्न होती है। इसका थोड़ा विवरण हमने 'भृगु' और 'अंगिरा' वाले प्रकरण

में दिया है। 'सवर्णा' से उत्पन्न शनैश्चर को भी सूर्य का पुत्र बताया गया है। इसका तात्पर्य है कि 'शनि' नामक तारा सूर्य से इतनी दूरी पर है कि वहां सूर्य की किरणें सीधी पहुँच नहीं पातीं–कुछ वक्र होकर ही वहां पहुँचती हैं; इसीलिये उसे 'सवर्णा' या 'छाया' से उत्पन्न बतलाया गया है। शनि इतना बड़ा है कि अनेक सूर्य उसमें प्रवेश कर सकते हैं। वह भी इस ब्रह्माण्ड की परिधि पर है, इस कारण उसे सूर्य का पुत्र कहा गया है। जितने भी तत्त्व ब्रह्माण्ड–परिधि पर हैं, वे सभी सूर्य से उत्पन्न माने जाते हैं। सूर्य का जो प्रकाश सुमेरु की परिधि में जाता है, उसे ही प्राणरूप 'अश्व' कहते हैं। 'संज्ञा' जब वडवा–रूप से सुमेरु प्रान्त में चली गयी तो सूर्य भी अश्व बनकर सुमेरु–प्रदेश में पहुँचे और वहां अश्व और अश्विनी (वडवा) का संयोग हुआ, जिससे अश्विनी कुमारों की उत्पत्ति हुई। सुमेरु पृथ्वी की परिधि है अर्थात प्रान्त भाग है। वहां सूर्य किरणों की अन्यथा ही स्थिति हो जाती है। वहीं अश्विनी नक्षत्र की आभा के साथ सूर्य की किरणों का अद्भुत समागम होता है, जिससे वहां का वातावरण अन्य स्थानों से भिन्न हो जाता है।

इक्ष्वाकु–पूर्ववर्णित सूर्यवंशी वैवस्वत मनु से ही इक्ष्वाकु की उत्पत्ति पुराणों में कही गयी है। प्रत्येक मन्वन्तर में ब्रह्मा से मनु के उत्पन्न होने की कथा का वर्णन आता है और मनु को ही सभी प्राणियों का स्रष्टा माना जाता है। यही पुराणों की प्रक्रिया है। पुराणों की प्रक्रिया में सूर्य को ही ब्रह्मारूप माना गया है और उनसे वैवस्वत मनु की उत्पत्ति कही गयी है। एक दिशा में जाने वाले प्राणों के प्रवाह को मनु कहते हैं। इसी कारण सभी प्राणी वृत्ताकार न बनकर लम्बे होते हैं और इनकी आकृति के एक भाग में ही शक्ति प्रधानरूप से रहती है, जिसकी चर्चा पहले भी की गयी है।

पुराणों में लिखा है कि मनु ने अपनी छींक से इक्ष्वाकु की उत्पत्ति की। इसका भी तात्पर्य मनु की प्राणरूपता से ही है। हमने पूर्व ही 'वराह' के प्रकरण में लिखा है कि विचार करते हुए ब्रह्मा की नाक से एक छोटा–सा जन्तु निकला और वही बढ़कर वराह के रूप में परिणत हो गया। वही प्रक्रिया यहाँ भी समझनी चाहिये। प्राण का व्यापार मुख्यरूप से नाक से हुआ करता है और मनु अतीन्द्रिय प्राण है, अतः उसकी भी सृष्टि नाक से ही बतलायी गयी है। यही प्राणरूप देवताओं के चरित्र की संगति मनुष्य–प्राणियों से पुराणों में मिला दी जाती है। इन सबका तात्पर्य यही है कि सूर्यवंश में मनुष्य–रूप राजाओं का प्रारम्भ इक्ष्वाकु से ही होता है। यदि इनके पिता आदि का मनुष्य–रूप में वर्णन अपेक्षित हो तो यही कहना होगा कि सूर्य या आदित्य नाम का कोई पुरुष–विशेष भी था और उससे मनु नाम का कोई पुत्र उत्पन्न हुआ। उसी से इक्ष्वाकु का जन्म हुआ। इसी इक्ष्वाकु से उत्पन्न सूर्यवंश के प्रधान राजाओं का वर्णन विस्तार से पुराणों में है और जिन राजाओं के कुछ अद्भुत कर्म हैं या जिनके कार्यों का विज्ञान से भी सम्बन्ध जोड़ा गया है, उनके चरित्रों का भी विवरण विशेष रूप से पुराणों में है।

❋ ❋ ❋

वेदान्त और योग

लेखक—डा० महेन्दनाथ

हिन्दुस्तान का जीवन और तत्व ज्ञान सदा एक साथ रहा है। तत्वज्ञान का अर्थ हिन्दुस्तान में केवल 'पदार्थों को विचार दृष्टि से देखना' ही नहीं है। तत्व ज्ञान का वास्तविक अर्थ तो आत्मप्रकाश है। इसलिये हिन्दुस्तान के तत्ववेत्ता केवल सिद्धान्त का प्रतिपादन कर चुप नहीं रहते, किन्तु साथ ही ऐसी साधना भी बतलाते हैं जिससे आत्मबोध के जो अनेक स्तर हैं वे खुल जायें और अन्त में सत्य का साक्षात्कार हो। वेदान्त में इस विषय की समीक्षा विचार दृष्टि तथा अन्तर्दृष्टि दोनों से होती है। इसलिये यह एक 'दर्शन' भी है और साथ ही आत्मस्फूर्ति भी।

इसकी विचार दृष्टि में सविशेष ब्रह्म और निर्विशेष ब्रह्म दोनों एक चीज नहीं हैं; ब्रह्म एक ही और वह निर्विशेष है, उस पर माया का जो विश्व प्रपंच दीखता है वह केवल भ्रम है। अद्वैत वेदान्त का यही परम सिद्धान्त है और इस सिद्धान्त को मानने वाला कोई भी साधक तब तक सन्तुष्ट नहीं हो सकता जब तक उसे 'तत्वमसि' महावाक्य का साक्षात् अनुभव न हो। इस सत्य के अनुभव करने का सर्वोत्तम मार्ग यही है कि बुद्धि इतनी निर्मल और ज्ञान–प्रवण हो जाय कि यह सदसत् या नित्यानित्य के भेद को अनुभव कर सके। वेदान्त की साधना मुख्यतया ज्ञान–साधना है, जिसके अभ्यास से धीरे–धीरे वह बोध होता है जिसे सब पदार्थ एक ही सनातन सत्ता में देख पड़ते हैं। वेदान्त की मुख्य साधना 'दृश्यमार्जन' है अर्थात् पदार्थों और उनके रूपों को नित्यानित्य वस्तु विवेक से देखकर सत् को असत् से अलग करना। इस व्यतिरेक क्रम से साधक को सबके आधारभूत एक ही सत् की सत्ता का साक्षात्कार हो सकता है।

वेदान्त के मननादिरूप अभ्यास से ऐसी विचारप्रणाली बँधती है और मन को ऐसा अभ्यास पड़ जाता है कि पीछे सदसत् का ज्ञान (विचार की अपेक्षा न रख) अपने–आप ही होने लगता है और सत् की जो सर्वत्र व्याप्त समसत्ता है वह अनुभूत होती है। वेदान्त दार्शनिक सिद्धान्त के नाते सत् के साथ नाम रूपात्मक जगत् का समन्वय नहीं साध सका है; क्योंकि इसका सिद्धान्त ही यह है कि नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म पर आरोपित एक मानसिक व्यापार मात्र है, यथार्थ में ब्रह्म में उसकी कोई सत्ता नहीं है। कारण में कार्य के होने की बात को वेदान्त परमार्थतः नहीं स्वीकार करता, यद्यपि यह मानी हुई बात है कि कारण ही कार्य के रूप में भासता है।

सामान्य सांसारिक बुद्धि में यह नामरूपात्मक जगत सत्य है। इसलिये वेदान्त सृष्टि रचना का क्रम बतलाते हुए माया और ईश्वर इन दो तत्वों को मानकर चलता है। माया को ब्रह्म का व्यष्टि तत्व माना है। इस व्यष्टि तत्व की सत्ता अवश्य ही वैसी नहीं है जैसी कि ब्रह्म की सत्ता।

वेदान्त का विचार इस प्रकार है कि मनुष्य की बुद्धि को जब यह तत्व जिज्ञासा होती है कि इस दृश्य जगत् का कारण है, तब उसे कारण के लिये मूल सत्ता की ही भावना करनी पड़ती है; यह मूल सत्ता अवश्य ही ऐसी सत्ता है जिसमें इस नामरूपात्मक विश्व की विविध रचना के लिये किञ्चित भी कोई विकार नहीं उत्पन्न होता। व्यष्टितत्व केवल माया में कल्पित है।

परब्रह्म के अन्दर अपने आपको परिच्छिन्न और परिवृत करने वाला जो तत्व है उसे माया कहते हैं। मानो ब्रह्म अपने संकल्प और सृष्टि क्रम में अपने आपको बाँधता है। पर यह केवल प्रतीत होता है ऐसा है नहीं।

इस ज्ञान के आधार पर वेदान्त की साधना प्रतिष्ठित है, इस कारण इसमें दृश्य जगत से विरक्त का भाव धारण करना स्वाभाविक ही हो गया है। वेदान्त में जीवन को प्रापञ्चिक और पारमार्थिक दोनों ही रूपों में साधा जाता है और यद्यपि प्रापञ्चिक की सत्ता वेदान्त ने अस्वीकार की है तथापि उसके व्यावहारिक उपयोग को उसने ग्रहण किया है। इसी दृष्टि से वेदान्त ने जीवन में तथा आत्मानुभूति के क्षेत्र में भी एक नया रास्ता निकाला है—गन्तव्य स्थान पर पँहुचने के पश्चात् अवश्य ही इस रास्ते का कुछ महत्त्व नहीं रह जाता। बात यह है कि वेदान्त का वास्तविक कार्य चैतन्य को अज्ञान से मुक्त कर देना है; पर मुक्ति भी क्रमशः होती है, पहले साधक के जीवन में ऐसी शुद्धता और सूक्ष्मता आती है जो सामान्य सांसारिक जीवन में नहीं होती। वेदान्त में आध्यात्मिक जीवन के दो भाग किये जा सकते हैं—एक अध्यात्ममूलक व्यावहारिक साधन और दूसरा आध्यात्मिक परागति। पूर्वोक्त साधन करते हुए चित्त शुद्ध और बुद्धि बोधशक्ति सूक्ष्म होती जाती है। यह साधनावस्था देहाभिमानी अबोध प्राकृत जीवन की अपेक्षा उन्नत जीवन है। यह दिव्य जीवन है, क्योंकि इसमें क्रमशः उन शुभ वृत्तियों का उदय होता है जो अज्ञान से दबी रहती हैं और जीवन में स्वच्छता और पवित्रता का आनन्द आता है; यहाँ साधन में तो क्रमविकास हो रहा है, पर उस हालत में भी लक्ष्य वही निर्गुण ब्रह्म है जिसमें कोई विकार नहीं होता। यह विकास अवश्य ही अधिक सूक्ष्म है, क्योंकि इसमें दैवी वृत्तियाँ उदय होती हैं और विकासक्रम में यह ऊँची चढ़ाई है; तथापि जीवन का सूत्र जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में वही

एक ही चला आता है और इस कारण द्विधाविभक्त बोध के बोझ से जीवन दब जाता है।

वेदान्त में आत्मानुभव के दो मार्ग हैं--(१) प्रत्यक्ष, और (२) अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष मार्ग है नित्यानित्य वस्तु-विवेक। इसका ऐसा अभ्यास हो कि छोटी-छोटी बातों में भी मन से च्युत न हो और प्रत्येक पदार्थ में उसी अविकार्य सत् को ढूँढे।

परन्तु प्रत्येक पदार्थ में सत् को ढूँढने की इस वृत्ति से बाह्य पदार्थों की सत्ता का लोप हो सकता है और पदार्थ मात्र के मूल में अव्यय चैतन्य प्रकट हो सकता है।

इस प्रकार दृश्यमार्जन की पद्धति से जैसे पृथक् सत्ता-सी प्रतीत होने वाली अनात्म प्रकृति के रूप में भासनेवाला बाह्य अन्तराय नष्ट हो जाता है, वैसे ही आभ्यन्तर प्रकृति (मन-बुद्धि आदि)के अव्वहित निरीक्षण-क्रम से उसकी भी अनित्यता और क्षण-क्षण में पलटने की वृत्ति प्रकट हो जाती है। यह भ्रम भी दूर हो जाता है कि हमारी चेतनप्रकृति स्वभाव से गतिशील है।

वेदान्त ने हमारी आन्तर प्रकृति और हमारे चित्स्वरूप में भेद बताया है। मनुष्य का अन्तःकरण चित्स्वरूप को प्रतिबिम्बित करता है और प्रकाशयुक्त देख पड़ता है, पर यह आत्मा की अन्तःकरण पर पड़ी हुई केवल छाया है।

यहाँ भी, वेदान्त में, विचारणा के द्वारा आन्तर प्रकृति के चक्करों में से बाहर निकलकर अन्तर्हित आत्मा को पुनः प्राप्त करना होता है। इसके लिये चेतन प्रकृति के केन्द्र स्थान में अर्थात् उस कालातीत सत्ता में जो आन्तर प्रकृति की अप्रतिहत सतत् गति में सदा स्थिर और अव्यवहित रहती है, दृष्टि को एकाग्र करना पड़ता है। आन्तर प्रकृति की विकृतियों को इस प्रकार देखने का जो अभ्यास है उससे दृष्टि विशाल होती है और क्रमशः अन्तःसाक्षी का साक्षात्कार होता है। यह अन्तःसाक्षी शान्तिस्वरूप है और मन, बुद्धि, अहंकार की वृत्तियों के खेल का द्रष्टा है। यह द्रष्टा है, नैयायिकों का कर्ता नहीं; यह मोक्षस्वरूप है, काल और कलाविच्छिन्न आन्तर प्रकृति से सर्वथा मुक्त।

द्रष्टा गुणी या कर्मी नहीं है, उसमें गुण और कर्म होने का मतलब तो यह होगा कि उसका द्रष्टृत्व और कर्तृत्व अन्तःकरण में आबद्ध है। वह मोक्षस्वरूप है, वैसा कर्ता नहीं जो अन्तःकरण में अपना प्रतिबिम्ब डाले, उसे प्रकाशित करे, अभिप्राय व्यक्त करे अथवा किसी प्रकार का भी कोई काम करे। द्रष्टा के इस मुक्तस्वरूप को श्रीमत्शंकराचार्य ने पहचाना, कँट आदि नहीं पहचान सके।

मोक्षस्वरूप द्रष्टृत्व ही आध्यात्मिक और पारमार्थिक अनुभूति की पराकाष्ठा है। इस

अनुभूति मे जीवन और ईश्वर, हृत्पुरुष और विराटपुरुष इस प्रकार का कोई भेद नहीं रह जाता। कारण, यथार्थ में वेदान्त का 'तत्त्वमसि' महावाक्य किसी प्रकार का समन्वय नहीं है, बल्कि वह परा स्थिति है जिसमें भेद या समन्वय का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। अतः वास्तविक वेदान्तिक साधना इसी परम बोध को प्राप्त होने का प्रयास है जहाँ ये सामान्य संकुचित भेद ज्ञान नहीं रह पाते।

वेदान्त की साधना इसी ज्ञान–धारणा पर निर्भर करती है कि अनेकत्व जो कुछ देखने में आता है वह सब मिथ्या है और चिन्मय ब्रह्म का जीवन या ईश्वररूप में घनीभूत होकर कर्म करना भी मिथ्या है और अद्वितीय सत्य केवल वही परब्रह्म है जो इन सबके परे है। सविशेष और निर्विशेष ब्रह्म के इस भेद को जानना और सविशेष को अनित्य और मिथ्या मानना वास्तविक ज्ञान का आरम्भ है। पर सविशेष को केवल अनित्य मानने से पूरा काम नहीं होता, इसके साथ इसके परे जो अद्वितीय सत्य है उसकी खोज होनी चाहिये। इससे उस चैतन्य के कपाट खुलते है। जो न अक्रिय है न सक्रिय, मन और वाणी से जिसका वर्णन ही नहीं हो पाता।

ऐसी साधना और ऐसी अनुभूति उन उदार आत्माओं से ही बन पड़ती है जिन्होंने प्रखर वैराग्यसाधन किया है और बोधशक्ति का तुरीय मान खोल दिया है।

इस बोध को प्राप्त होने की अवस्था पहले तर्क से जानी जा सकती है, पर है यह यथार्थ मे मन की साधना। वस्तु जब प्रत्यक्ष या समीप होता है तभी विश्वास की पूर्णता होती है। इसका यह मतलब है कि इस वेदान्त–सिद्धान्त सतत् मनन और निदिध्यासन हो। इससे वृत्ति ब्रह्माकार होती है और मन एवं अहंकार की दुस्तर माया को तर जाने में बड़ी मदद मिलती है और मन अन्तर्मुख होकर जीवन के उस क्षेत्र में प्रवेश करता है जो देशकाल के परे है। वेदान्त में योग का माहात्म्य यही है।

'योग' शब्द के अनेक अर्थ और रूप हैं, पर इसका जो सर्वसम्मत अर्थ है वह चैतन्य के विविध स्तरों का खुलना ही है। और योग का लक्ष्य प्रायः आत्मा की विज्ञानमय स्थिति पर पड़े हुए आवरण को हटाना, चित्त को अधिकाधिक चिन्मय बनाना और विश्व जीवन के जगमग प्राणस्वरूप को अपने अन्दर अनुभव करना होता है। विज्ञानमय जीवन का जो विस्तृत क्षेत्र है; जो विविध ब्रह्माण्डों में तरतमाव से प्रकट हुआ है, जीवन उसी क्षेत्र में पहुँचने की इच्छा करता है। योग से विश्वजीवन का सूत्र हाथ में आता है और जीव भगवत्सत्ता के साथ सगुण रूप में मिलना चाहता है।

यह मार्ग अप्रत्यक्ष है; क्योंकि यह सान्त साकार चैतन्य की आधारभूमि के तौर पर

ग्रहण करने का एकबारगी निषेध नहीं करता। पर इसका लक्ष्य क्रमशः सान्त जीवन में अनन्त जीवन को भरना और सान्त चिन्मय सत्ता को अनन्त की वृत्ति, शक्ति और ज्ञप्ति में मिला देना ही है। जो लोग उपासनामार्गी हैं और अपर ब्रह्म का ध्यान करते हैं उन्हें सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार होता ही है।

इस योग का वास्तविक स्वरूप एकमेवाद्वितीय ब्रह्म के सगुण रूप का एकाग्रध्यान और उसी में मिलना है। यह मिलन अन्तःकरण में होता है और तब शान्ति और शक्ति का उदय होता है। पर इसमें साधन की मुख्य और गुप्त बात यह है कि हमारे स्थूल शरीर और स्थूल प्राण हमारे वश में हों और सूक्ष्म प्राण और सूक्ष्म अन्तःकरण के साथ अपने जीवन का अभेद–सम्बन्ध हो।

जब हमारी प्रकृति की जड़ता दूर होगी तब सगुण ब्रह्म की सूक्ष्म जीवनधाराओं की अनुभूति होगी। पर इस मार्ग की परिसमाप्ति तब होती है जब अन्तःकरण में सगुण ब्रह्म का, केवल जब कभी नहीं बल्कि, सतत अनुभव हो। जिनको ऐसा सतत अनुभव होता है उनमें प्रचण्ड शक्ति और अगाध ज्ञान होता है, क्योंकि सगुण ब्रह्म के साथ उनका जीवनसूत्र इस तरह मिला हुआ होता है कि ईश्वरीय कार्यों की उन्हें स्पष्ट सूचना मिलती रहती है और विश्व जीवन की गति के साथ–साथ उनके पैर पड़ा करते हैं।

यह तो सगुण–साधक योग है उससे ईश्वर प्रीत्यर्थ कर्म करने वाले की वृत्ति अत्यन्त प्रबल होती है और वह सायुज्यमुक्ति के साधन के लिये साधक को तैयार करती है।

वेदान्त के इस योग में जीवन और शिव की जो एकरूपता होती है वह एकरूपता केवल परात्पर ब्रह्म की स्थिति में ही नहीं होती–परात्पर ब्रह्म के साथ एकरूप होना तो इस योगी की परिसमाप्ति ही है–बल्कि त्रिगुणात्मक जगत्कर्म में भी ईश्वर के साथ जीवन एकरूप होता है और यह यों होता है कि वेदान्त में व्यवहारतः जीव और ईश्वर में भेद है, परमार्थतः नहीं है। इस तरह मनुष्य की इच्छा और ईश्वर की इच्छा में भेद है, और इसलिये वेदान्त में मनुष्य की इच्छा और ईश्वर की इच्छा के योग का विधान है। वेदान्त की साधना में योग के इस अंग पर जो अधिक ध्यान दिया–दिलाया जाता है, इसका कारण यह है कि मोक्ष का ध्यान मुख्य होने से इसका ध्यान दब–सा गया है।

ईश्वर और जीव की इच्छा के एक होने का अर्थ तो वास्तव में यही है कि मनुष्य की इच्छा ईश्वरेच्छा के पूर्ण शरणागत हो; पर यह शरणागति 'जो कुछ होता है, होने दो' ऐसा मानकर चुप पड़े रहने की स्थिति नहीं है, बल्कि अपनी इच्छा को नये साँचे में ढालना है और अपनी वृत्ति को विश्व की गति के साथ मिलाना है। इस प्रकार मनुष्य का चित्त

अहंकार और ममकार की सीमा तोड़कर अन्त में अपने परमात्मस्वरूप को अनुभव करता है। तब वह विधि–निषेध रूप कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है और उस लोक में प्रवेश करता है जहाँ सब चित्त पृथक् होते हुए भी एक होते हैं और यहाँ उसका व्यष्टि–अहंकार और ममकार पीछे छूट जाता है। वेदान्त के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की चित्तवृत्ति इतनी विशाल हो सकती है कि उसमें अहंता–ममता कुछ रह ही न जाय। चित्त का वास्तविक मोक्ष यही है, क्योंकि इसी से उसको अपने स्वच्छन्द, विश्वव्याप्त और विधि–निषेधातीत तथा निरहंकार स्वरूप का बोध होता है।

यही चित्त का मोक्ष है, क्योंकि यही चित्त को सब प्रकार की सीमाओं से मुक्त कर देता है। पर यह मोक्ष वह मोक्ष नहीं है जो परात्पर ब्रह्म के साक्षात्कार से प्राप्त होता है। यह केवल चित्तवृत्ति का स्वातन्त्र्य है, और यह आत्मा का स्वातन्त्र्य है। वेदान्त आत्मस्वातन्त्र्य को ही उच्चतर स्थिति मानता है, जिसमें ध्याता–ध्यान–ध्येय की त्रिपुटी समाप्त हो जाती है।

इस सगुण ब्रह्म के साथ एकात्मता होने से अहंता–ममतारूप सत्ता बदलकर सत्ता का कुछ दूसरा ही स्वरूप हो जाता है और अपनी ससीमता का ध्यान भी नहीं रहता। यद्यपि पूर्व के संस्कार इस अवस्था में भी उठकर अहंकार के समवस्थित करने में सचेष्ट होते हैं तथापि सगुण ब्रह्म के साथ एकात्मता का जो भाव है वह अहंभाव से क्रमशः मुक्ति दिलाने वाला है। और उससे अन्तःकरण में अनन्त की सत्ता स्थापित होती है। अन्तःकरण का इस प्रकार पूर्ण परिवर्तन होने से बाह्य जगत् के अनुभव करने का प्रकार भी बदल जाता है। फिर व्यक्तिगत या व्यष्टिगत स्वरूप में रमना नहीं होता, अव्यक्त अनन्त की अनुभूति होने लगती है।

यह मानना कि पृथक् मन और अहंकार के बिना कोई प्रतीति नहीं हो सकती, गलत है। प्रतीति–अनुभूति बोध को अहंकार की विमूढ़ता से मुक्त करना ही वेदान्त सिखाता है।

इस मुक्ति के बिना चित्तवृत्ति या इच्छा का मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि बोधशक्ति और चित्तवृत्ति का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों एक साथ ही रहती हैं। इस प्रकार वैयक्तिक मनोगत इच्छा से संकल्प से मुक्त होकर ही साधक विश्वात्मा और विश्वसंकल्प को साक्षात् करके विश्वबोध के आनन्द को प्राप्त होता है।

बोधशक्ति और चित्तवृत्ति को इस प्रकार नियत करने से इतना ही होता है कि मुक्ति का आस्वाद मिलने से आगे बढ़ने को जी चाहता है–इससे यह नहीं होता कि त्रिगुण की वृत्तियों से पूर्ण मोक्ष मिल जाय। कारण, यह भी साधन की अवस्था है–चेष्टा है और चेष्टा

चाहे कितनी भी स्वयंस्फूर्त हो वह बद्धता का ही लक्षण है–मुक्त आत्मस्वरूप नहीं। इसलिये वेदान्त का अन्तिम लक्ष्य इस सगुण की अवस्था के परे पहुँचना है। यह तब हो सकता है जब हम विश्वात्मबोध से क्रमशः ऊपर उठकर उस परम भाव को प्राप्त हों जहाँ कोई इच्छा नहीं है, केवल एक अद्वितीय परमात्म सत्ता है–यहाँ कोई चेष्टा नहीं है, न फल पाने का कोई सुख है, प्रत्युत एक ऐसा आनन्द है जो चिन्मय है।

पूर्व साधना से चित्तवृत्ति, उदार और विशाल होती है, और उत्तर साधना से परा सत्ता–परम भाव का बोध होता है। चित्तवृत्ति देशकाल से सर्वथा स्वाधीन नहीं है, उसे कार्यरूप में व्यक्त होने के लिये किसी–न–किसी माध्यम की आवश्यकता होती है और माध्यम की इस आड़ के कारण अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता। इसलिये वेदान्त में योग का वास्तविक परम अर्थ यह साधन है जिससे देशकालाद्यनवच्छिन्न नित्य–शुद्ध–बुद्ध–मुक्तस्वभाव परमात्म चैतन्य में चित्त लग जाय–पूर्वसाधना में चैतन्य का जो देशकालावच्छिन्न परिचित–अभ्यस्त व्यक्त रूप है उससे चित्त मुक्त हो, क्योंकि देशकालावच्छिन्नता ही यहाँ बद्धता है। कैंट के 'विशुद्ध तर्क' वाद (Pure reason) में बुद्धि की विषयातीत सत्ता होने से उसमें देश काल से स्वतन्त्र स्वतः सिद्ध बुद्धि के साथ बाह्य जगत् के तदनुरूप होने वाले बोध की समन्वित एकता साधित हो सकती है; पर यह तो बाह्य जगत् का बोध है वह तो देशकाल से परिच्छिन्न ही है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं।

वेदान्त ने उसे चिन्मय ब्रह्म का पता पाया है जो देशकाल के परे है। वह गुणवृत्तियों से सर्वथा स्वतन्त्र और देशकाल से अनवच्छिन्न होने के कारण कैवल्यस्वरूप है। वेदान्त का यह विशिष्ट अनुभव है। योग अन्तःकरण की ग्रन्थियों को भेदने और ज्ञान के भिन्न–भिन्न स्तरों को खोलने की कला है और वेदान्त की विशिष्ट योगसाधना देशकालाद्यनवच्छिन्न चिन्मय ब्रह्म को पाना है। यह मोक्ष आत्मा को सगुणरूप से नहीं प्राप्त होता, निर्गुण परमभाव के साक्षात्कार से होता है। कारण, सगुण देशकालपरिच्छिन्न है और परम भाव में ऐसी कोई परिच्छिन्नता नहीं। काल की परिच्छिन्नता को हटाकर चिन्मय ब्रह्म को पाना ही मोक्ष का परम साधन है। यही वैदान्तिक योग का ज्ञानयोग की मूल भित्ति है।

❊❊❊

महादेव का विषपान

लेखक–डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

शिव की लीलाओं में उनके द्वारा विषपान करने की कथा अत्यन्त सार्थक और महत्वपूर्ण है। कहा जाता है कि जिस समय देवता और असुर समुद्र–मन्थन कर रहे थे, उस समय कई रत्न उत्पन्न हुए। उन्हीं में क्रमशः हालाहल विष भी प्रकट हुआ। उसकी दसों दिशा में व्याप्त लपटों से देवता जलने लगे। किसी को यह साहस न हुआ कि उस विष को ग्रहण कर सके। तब देवों ने मिलकर शिवजी से प्रार्थना की कि वे विष को शान्त करें। शिव ने परिस्थिति समझकर इसे स्वीकार कर लिया। इसी कथा की पृष्ठभूमि में गुसाईं जीने लिखा है–

जरत सकल सुर बृंद, विषम गरल जेहिं पान किय।
तेहि न भजसि मन मंद को कृपालु संकर सरिस।।

सचमुच विष पीकर शंकर ने समस्त संसार पर बड़ी कृपा की, अन्यथा हालाहल विष की लपटों से प्राणिमात्र भस्म हो जाते। विष को पचाने की सामर्थ्य शिव में ही थी। इसी पराक्रम के कारण वे देवदेवता महादेव कहलाये। विष साक्षात् मृत्यु का रूप है जो प्राणों का लोप कर देता है। विष–पान के कारण ही शिव जी की संज्ञा मृत्युंजय हुई। वैसे तो सभी देवता अमर माने जाते हैं, किंतु विष के रूप में साक्षात् स्थूल मृत्यु से लोहा लेकर और उसे अपने शरीर में पचाकर वास्तविक मृत्युंजय की उपाधि शिव को ही प्राप्त हुई। विषपान करने पर भी शिव के शरीर से स्वर्गीय प्राण–शक्ति की सुगन्धि ही निकलती रही। मृत्यु की दुर्गन्ध उनका स्पर्श न कर सकी। वे मृत्यु से मुक्त होकर अमृत के गर्भ में प्रतिष्ठित हो गये। लिंग–पुराण में समुद्र–मन्थन की कथा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि विषपान करने के अनन्तर शिव जी हिमालय की कन्दरा में एकान्त में जाकर बैठ गये। देवता उनकी स्तुति करना चाहते थे कि उन्होंने विषपान–जैसा महान् पराक्रम किया। उन्होंने देखा कि शिवजी हिमालय की गुफा में ध्यानमग्न हैं। देवता वहीं पहुँचे और उनकी प्रशंसा करने लगे कि 'महाराज ! आपने जैसा पराक्रम किया वैसा आज तक किसी ने नहीं किया था।' शिव जी ने उत्तर दिया कि 'मैंने यह स्थूल विष पीकर कुछ भी विचित्र बात नहीं की। मेरी दृष्टि में वस्तुतः बड़ा वह है जो इस संसार में भरे हुए विष को पचा सकता है। संसार को निचोड़ने से या अनुभव करने से जो विष सामने आता है वह विष स्थूल विष की अपेक्षा कहीं अधिक भयंकर है। सबके लिये वह प्रकट होता है। उस पर विजय पाना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

इस कथा के मूल में एक और भी प्राचीन कल्पना है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति समुद्र के समाने अनन्त और अपार है (पुरुषो वै समुद्रः)। इस समुद्र में मन रूपी जलराशि भरी हुई है। नित्यप्रति उसी का मन्थन होता रहता है और उसके मन्थन से गुण और दोष

दोनों प्रकट होते हैं। जो गुण या सत् पक्ष है वह विष का। जो दोषों को जीतकर मन के शिवात्मक रूप की रक्षा कर सकता है वही सच्चा शिव है। शिव के विष–पान की अन्य व्याख्या वैदिक प्रतीकवाद के अनुसार इस प्रकार है–

यह विश्व और प्रत्येक प्राणी अग्नि और जल के संयोग से बना है (अग्नीषोमात्मक जगत) अग्नि पिता और जल माता है। अग्नि देवों और जल असुरों का निवास है। जल का अधिपति वरुण असुरों का अधिपति है। अग्नि का अधिपति रुद्र महादेव है जो सब ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है (अग्निर्वैरुद्रः। शतपथ ० ५। ३। १। १०)। अग्नि ज्योति, दिन और ऊष्मा का रूप है एवं जल रात्रि, तम और हिम का रूप है। इन प्रतीकों की व्याख्या प्राचीन वैदिक दर्शन का अंग थी। तदनुसार अग्नि या रुद्र प्राणाग्नि की संज्ञा थी और जल उसके विपरीत प्राण के निराकरण का सूचक। मनुष्य के अपने शरीर में यह बात प्रतिक्षण प्रत्यक्ष घटित हो रही है। यहाँ रक्त दो प्रकार का है–एक लोहित और दूसरा नील। और दोनों के प्रवाहित होने की धमनी नाड़ी और शिराएँ अलग–अलग हैं। शुद्ध रक्त लाल धमनियों द्वारा शरीर में अभिसरण करता है। उसमें प्राणवायु या अमृत का संस्पर्श और शक्ति देखी जाती है। वह जीवन का पोषक है। नीले रंग की नाड़ियों में अशुद्ध रक्त का प्रवाह शरीरस्थ विषों को लेकर हृदय की ओर बहता रहता है और वहाँ प्राणवायु के सम्पर्क से पुनः शुद्ध किया जाता है। इस प्रकार अमृत और विष का द्वन्द्व या चक्र हर समय घूमता रहता है। इसी से जीवन की सत्ता बनी रहती है। यदि प्राणात्मक अग्नि शरीर की नस–नाड़ियों और कोशों में उत्पन्न होने वाले मल या विष को दग्ध करके शुद्ध न करे तो अत्यधिक विषसंचय से मृत्यु का होना सम्भव है। अतएव यह कल्पना यथार्थ है कि शरीर की शिवात्मक प्राणाग्नि निरन्तर विष का पान करती रहती है। इस विषम गरल का शोषण और पाचन होने से ही शरीर की देवात्मक शक्तियाँ या इन्द्रियाँ स्वास्थ्यलाभ करती हैं। अमृत और मृत्यु के संघर्ष का यह नाटक प्रतिक्षण जीवन की रक्षा के लिये प्रत्येक प्राणी के अध्यात्म–केन्द्र में हो रहा है। मनुष्य पशु–पक्षी और वृक्ष–वनस्पति सब अपनी शिवात्मक प्राणशक्ति या प्रणाग्नि के द्वारा विश्वरूप मृत्यु का पराभव करते हैं। अतः शिव के विषपान की कथा–कहानी मात्र नहीं। प्रत्येक पुरुष रूपी समुद्र में जलीय रत्नों का मन्थन हो रहा है, उसी से विष और अमृत दोनों उत्पन्न होते हैं। प्राण अमृत और अपान के वेग विषाक्त होते हैं। प्राण की विजय और अपान की पराजय विष और अमृत का ही रूपक है। इस प्रकार के विष, भूत, प्राण और मन तीनों धरातलों पर उत्पन्न होते रहते हैं। इन तीन अग्नियों के सम्मिलित रूप की वैदिक परिभाषा में वैश्वानर कहा जाता है। प्रत्येक प्राण–केन्द्र में इसकी प्रतिष्ठा है।

अयमग्निर्वैश्वानरो यो यमन्तः पुरुषे।

(शतपथ ० १४। ८। १०। १)

शरीरस्थ वैश्वानर सूर्यरूपी विराट् वैश्वानर से निरन्त शक्ति प्राप्त करता रहता है। अग्नि, वायु, आदित्य इन तीन अग्नियों की सत्ता अध्यात्म और अधिदैवत दोनों में है। दोनों एक दूसरे से संयुक्त या मिले रहते हैं। विराट्, वैश्वानर शक्तिशाली महासुपर्ण के समान है और अध्यात्मक वैश्वानररूप प्राणाग्नि भूमिस्थ वर्तिका या बटेर के समान है। द्युलोक के सुपर्ण ने अपने बल से भूमि या पञ्चभूतों की इस वर्तिका को अपने दृढ़ पंजों में जकड़ रक्खा है। ग्रस्तां सुपर्णस्य बलेन वर्तिकाम्–और जब तक दोनों का यह सम्बन्ध अक्षुण्ण है तभी तक जीवन सकुशल है। इस वर्तिका के रक्षक दो अश्वनीकुमार या प्राणपान हैं। एक ओर अमृत का महासमुद्र है और दूसरी ओर मृत्यु से आच्छादित वरुण के आसुरी रूप में प्रवाह से वंचित सड़े हुए जल हैं। इन्द्र का प्रतिनिधि सुपर्ण एवं वरुण के प्रतिनिधि नाग हैं। ये ही सौपर्णेय और काद्रवेय कहलाते हैं। सुपर्णों की माता विनता और नागों की कद्रू है जिनके पारस्परिक द्वन्द्व की महती कथा पुराणों में आयी है। उसका मूल बीज ब्राह्मण–ग्रन्थों और वेदों में है। प्रसिद्ध है कि सुपर्ण या गरुड़ अपने पंखों की शक्ति से स्वर्ग तक पहुँचकर वहाँ से अमृत का घट लाये थे। विष से भरे हुए नाग भी अमृत का भाग चाहते हैं; किन्तु वे केवल उन कुशाओं को ही चाट सके जिन पर अमृत का घट रक्खा गया था। कुशाओं को वैदिक भाषा में बर्हिष भी कहते हैं। सर्वप्रथम पुरुष के निर्माण में कुशारूपी नस–नाड़ियों में ही अमृत–जल से प्रेक्षण किया जाता है। विष तो केवल दूर से ही प्राण धाराओं का स्पर्श कर पाता है। उन धाराओं में विष का संचार साक्षात् मृत्यु का रूप है।

अमृत और मृत्यु का यह द्वन्द्व विश्वव्यापी है। सूर्य की रश्मियों में भी ये दोनों तत्त्व हैं। प्रत्येक सूर्य–रश्मि प्रकाश और ताप उत्पन्न करती है। प्रकाश से अमृत और ताप से मृत्यु का जन्म होता है। प्रकाश की किरणें पोषक और ताप की रश्मियाँ विनाशक होती हैं। इन्हीं के मेल से सूर्य का वर्णछत्रक या रंगों की पट्टी बनती है। प्रत्येक रश्मि उसी का रूप है। इसे ही वैदिक परिभाषा में नील–लोहित इन्द्रधनुष कहा जाता है। रुद्र का एक स्वरूप या नाम वेदों में व्रात्य है। व्रात्य वह स्वरूप है जो सृष्टि यज्ञ से पूर्व सब दिशाओं में अधिकतम वेग से विचरने वाला रौद्र पुरुष है। वह व्रात्य जिस धनुष को धारण करता है उसका उदर या झुका भाग नील और पृष्ठ भाग लोहित कहा गया है। नील छोटी रश्मियाँ और लोहित बड़ी रश्मियाँ हैं जैसा कि किरणों की नीली और लाल रंग की पट्टियों (स्पेक्ट्रा) में देखा जाता है।

पुराणों में भगवान् शंकर का एक अतिप्रिय नाम नीललोहित भी है। उनका कण्ठ नील और शेष शरीर लोहित है। कण्ठ आकाश का प्रतीक है, जहाँ से शब्द का उदय होता है और शेष भारभूत कबन्ध या शरीर के प्रतीक हैं। इन चारों में विश्व की सत्ता अपना प्रभाव प्रकट कर सकती है, या उन्हें दूषित कर सकती है। किंतु चाहे जितना हालाहल विष हो वह अनन्त सूक्ष्म आकाश में विलीन हो जाता है और उसे दूषित नहीं कर पाता। आकाश

की वायु विष से दूषित हो सकती है, किंतु आकाश नहीं, वह पंचभूतों में सबसे अधिक विभु या व्यापक है।

वेदान्त दर्शन में तो आकाश को ब्रह्म का स्वरूप कहा गया है। (आकाशस्य तल्लिंगाद्) अर्थात ब्रह्म के समान ही आकाश भी तत्स्वरूप है। वह अव्यक्त है और वह शब्द द्वारा मूर्त होता है। जैसे ब्रह्म विश्व द्वारा मूर्त होता है। इस प्रकार जो कण्ठ–देश आकाश का अध्यात्म केन्द्र में स्थान है, वहाँ भी भगवान शिव ने विष को स्थान दिया और नीलकण्ठ कहलाये। कहना चाहिये कि विष भी वहाँ अमृत बनकर ही रह पाता है और भगवान की मृत्युंजय उपाधि को चरितार्थ करता है। योगविद्या के अनुसार पंचभूतों के पांच चक्र हैं, जिनके केन्द्र मेरुदण्ड में हैं। उनमें पाँचवाँ विशुद्ध चक्र कण्ठ देश में माना जाता है। उसका तत्व आकाश है। वह सबसे ऊपर है, उससे नीचे चार चक्र और हैं। उनमें हृदयगत अनाहत चक्र का अधिपति वायु है। उदर में जठराग्नि के रूप में क्रियाशील मणिपूर चक्र का अधिष्ठाता अग्नि है। उदरस्थ देश में क्रियाशील जलों से अधिष्ठित स्वाधिष्ठान चक्र है, जो प्रजनन शक्ति का नियामक है। मूलाधार चक्र का देवता पृथ्वी है, जिससे विसर्जन किया जाता है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर और अनाहत–इन चारों चक्रों से जो चार मल विसर्जित किये जाते हैं, वे विष से भरे हुए होते हैं। यहाँ तक कि अनाहत चक्र में क्रियाशील वायु के भी शुद्ध और अशुद्ध दो रूप हैं। प्रत्येक क्षण में भीतर की विषदूषित वायु बाहर आती रहती है और बाहर के अमृत को पीकर पुनः भीतर लौटती है। यह विधान प्रकृति के प्रत्येक प्राणी में रहता है। प्राण और अपान के चक्रात्मक व्यापार का नाम ही जीवन है, किंतु अनाहत या चौथे चक्र से ऊपर जब हम कण्ठदेशीय विशुद्ध चक्र की ओर देखते हैं तो वहाँ से उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म शब्द में कोई स्थूल विष नहीं दिखायी पड़ता।

शब्द के दो रूप हैं– एक सूक्ष्म अर्थ और दूसरा स्थूल अक्षर। सूक्ष्म अर्थ का सम्बन्ध मन से होता है और स्थूल शब्द का सम्बन्ध नीचे के चार अंगों से–विशेषतः नाभि और हृदय से होता है, ऐसा शिक्षा–शास्त्री शब्दों की तरंगों के विषय में कहते हैं। मन या चिन्तन का सम्बन्ध मस्तिष्क के सहस्रदल कमल से है, जहाँ भगवान शिव का निवास माना जाता है। वहीं आज्ञा या ज्ञान का चक्र है। जानने की सब क्रियायें यहीं से होती हैं। यह अमृत का लोक है। भगवान शिव के मस्तक पर विराजमान चन्द्रमा उसी अमृत का प्रतीक है, जो सदा शीतल रहकर अमृत की वर्षा करता रहता है। जितना भी स्थूल केन्द्रीय नाड़ी–जाल है, सब उस अमृत से सिंचित होकर अमृतत्व प्राप्त करते हैं। उससे शरीरस्थ हलाहल विष की ज्वालाएं शान्त होती रहती हैं। अग्नि विद्या के ये विभिन्न रहस्य हैं। शरीरस्थ भगवान् शिव की महिमा और अमृतमयी सोमात्मक शक्ति को कौन पूरी तरह जानता और कह सकता है।

शिव के विष–पान की कथा कोई इतिहास का तथ्य नहीं जो किसी सुदूर अतीत में

घटित हुआ है। किंतु यह तो नित्य की लीला है, जो मन, प्राण और पंचभूतों के धरातल पर नित्य होती रहती है। ईश्वर की दिव्य रचना का यह सर्वोत्कृष्ट नियम है कि यहाँ अमृत या देवों की विजय और विष या असुरों की पराजय निश्चित है। कहा गया है कि जब प्रजापति ने देवों की सृष्टि की, तब अमृत, ज्योति और सत्य इनका प्रादुर्भाव हुआ एवं जब असुरों की सृष्टि की तब मृत्यु, तम और अनृत का जन्म हुआ। जैसे ही शुद्ध चित्-शक्ति या मन देवलोक से पंचभूतों के धरातल पर अर्थात् भौतिक शरीर में आता है, तभी वह मलों से लिप्त बन जाता है। उस चित्त की शुद्धि निरन्तर आवश्यक है और वह सहस्रदल कमल में निवास करने वाली भगवान् शिव की चिन्मय शक्ति से ही सम्भव है। समस्त चर और अचर भगवान् शिव की भावमयी शक्ति से निर्मित है। भूतों के अशुद्ध भाव चिन्मय आत्मतत्व के शुद्ध भावों से पवित्र किये जाते हैं। अमृत और विष का यह तारतम्य सदा ध्यान में रखने योग्य है। भगवान् शिव के विष-पान का मार्मिक संकेत उसी ओर है। स्थूल विष का पान करना अपेक्षाकृत सरल है, किंतु सूक्ष्म भावों में व्याप्त मानस-विष को वश में करना ही सच्चा पराक्रम-शिवत्व का लक्षण है।

शिव के शरीर में सर्प लिपटे रहते हैं, ऐसी पुराणों की कल्पना है। सर्प साक्षात् विष या मृत्यु का लक्षण है। किंतु अमृतस्वरूप शिव पर उस विष या मृत्यु का कोई प्रभाव नहीं होता। मानसिक या मनन-समाधि के आदिदेवता शिव मनस्तत्व के अधिष्ठाता हैं। मन से ही वे मृत्युंजय बने हैं। ऋग्वेद की कल्पना के अनुसार शिव के तीन नेत्र हैं। अर्थात् सूर्य, चन्द्र और अग्नि। सूर्य को पिंगला या यमुना, चन्द्रमा को इड़ा या गंगा और अग्नि को सुषुम्ना या सरस्वती भी कहा जाता है। इसी कारण शिव की संज्ञा त्र्यम्बक है। इन तीनों में भी जो सुषुम्ना या सरस्वती है, वह सबसे मुख्य शक्ति है। वह सरोवर से निकलने वाली धारा है। मन ही वह दिव्य सरोवर है, जहाँ से सुषुम्ना या सरस्वती का जन्म होता है। यह सरस्वती सबसे अधिक पवित्र धारा है। (पाविका नः सरस्वती) अमृत के विचारों के अनेक वेग उसी से जन्म लेते हैं, जो पृथ्वी और आकाश में व्याप्त हो जाते हैं।

सूर्य और चन्द्रमा के द्वन्द्वात्मक स्पन्द को नियमित करने वाली धारा सरस्वती ही है। सूर्य को वैदिक भाषा में घर्म या द्रन्द्व कहते हैं, जिसका अर्थ गरमी है। चन्द्रमा को हिम कहा गया है। घर्म और हिम-दोनों मध्यस्थ अग्नि के ही दो रूप हैं। एक में ताप और दूसरे में प्रकाश का स्रोत है। त्र्यम्बक शिव का विशिष्ट रूप सुगन्धिमय है। अर्थात् जब शरीर की प्राणशक्ति सब दोषों का शमन कर देती है, तब शरीर-संचारी रसों से दुर्गन्धि हट जाती है और सुगन्धि उत्पन्न होती है। शुभगन्ध को योग का प्रथम लक्षण कहा है। दूषित गन्ध मृत्यु की ओर और शुभ गन्ध अमृत की ओर ले जाती है। अतएव शिव के मृत्युंजय मन्त्र में यही प्रार्थना की गयी है कि हम मृत्यु से छूटें, अमृत से नहीं। (मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्)।

❋❋❋

हिमालय के अमर महायोगी

पूर्णचन्द्र पन्त

बद्रीनाथ के निकट शतपथ में साधनारत योगी को ध्यान में आदेश देकर अपने पास बुलाना और उसे खेचरी सिद्ध कराना

आनन्दकन्द योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज को नेपाल हिमालय से लौटे कई वर्ष व्यतीत हो चुके थे। श्री कृपानिधि जी अमृतसर में साधारण विप्रवेश में निवास कर रहे थे। उनकी अलौकिक शक्ति, अद्भुत रूप, एवं योग के महान ऐश्वर्य को कोई नहीं जान सकता था; क्योंकि साधारण चर्म चक्षुओं से उनके दिव्य-रूप को समझना असम्भव ही था। कभी-कभी श्री प्रभुजी अपने मुखारविन्द से अपने वन की यात्राओं का जिक्र किया करते थे। सुनने वाले लोगों को उनकी आलौकिक कथाओं पर सहसा विश्वास नहीं होता था। वे लोग समझते थे, इन्होंने यह कथाएँ आत्म श्लाघा के लिए मन से कल्पित कर ली हैं। लोगों के पारस्परिक वाद-विवाद में कई प्रकार की चर्चायें रहा करती थीं। इसी अवसर पर हिमालय से एक योगिराज आए। वह श्री आनन्दकन्द परम कल्याण निधि श्री प्रभुजी के आकर्षण से ही वहाँ पहुंचे थे। अमृतसर पहुँचकर उन योगिराज ने हाल दरवाजे के सामने सन्तराम की सराय में समाधि लगा ली। उनका शरीर बिल्कुल नंगा था, केवल मात्र केले की छाल की एक लंगोटी लगाई हुई थी। सरदी के दिन थे, उनके शरीर पर केवल मात्र विभूति ही थी। इसी स्वरूप में श्री योगिराज जी समाधिस्थ होकर बैठ गए। उनके वहाँ आने से दर्शनार्थी लोगों की भारी भीड़ लग गई। शहर के लोग अपने अपने सांसारिक स्वार्थों को लेकर उनके पास आने लगे। परन्तु बड़े आश्चर्य की बात तो यह थी कि वह किसी भी समय समाधि से उठते दिखाई नहीं दिए।

जब से वहाँ पहुँचे थे, एक दिन भी उन्होंने नेत्र नहीं खोले। इस कारण लोगों में आश्चर्य का ठिकाना ही न रहा, सारे नगर में चर्चा फैल गई। शनैः-शनैः यह चर्चा श्री प्रभुजी के चरणारविन्दों तक भी पहुँची। श्री प्रभुजी के चरणारविन्दों में आने वाले लोगों में से किसी ने कहा-महाराज जी ! आप भी कुछ समय जंगलों में इधर-उधर घूम आए हैं। आप जंगलों में रहने वाले बड़े-बड़े सिद्ध, महात्माओं के दर्शनों की बात कहा करते हैं। आपको किस प्रकार के महात्मा मिले हैं-ये तो आप ही जानें। किन्तु हम आपको एक ऐसे योगिराज जी के दर्शन कराएँगे, जैसे न तो आपने देखे होंगे और न सुने ही होंगे। इस

प्रकार सुनकर अन्य लोगों ने भी श्री श्री प्रभुजी के चरण कमलों में प्रार्थना की–महाराज जी, चलिए। वह वहीं सन्तराम की सराय में ही बैठे हुए हैं। जिस दिन से आये हैं उन्होंने एक घन्टे को भी समाधि नहीं खोली है। श्री प्रभुजी ने साधारणतः मुस्काते हुए कह दिया–कोई बात नहीं भाई, महात्मा लोग तो आते ही रहते हैं। तुम सब लोग दर्शन कर आओ, यही पर्याप्त है। किन्तु फिर भी लोगों की यह तीव्र अभिलाषा रही कि वे लोग एक बार श्री प्रभुजी को वहाँ ले जाएं। श्री करुणानिधि जी के आकर्षण से तो वे वह महात्मा वहाँ आए ही थे। अतः श्री दीनबन्धु जी लोगों के साधारण आग्रह पर ही उनके साथ जाने को तैयार हो गए। फलस्वरूप उन लोगों के साथ ही सन्तराम की सराय की ओर चल पड़े।

वहाँ पहुँच करके लीलानिकेतन प्रभुजी उस महात्मा की पीठ की ओर जाकर खड़े हो गए। श्री प्रभुजी के वहाँ खड़े होते ही लोगों ने बड़ा भारी आश्चर्य देखा। सहसा महात्मा के शरीर में कम्पन प्रारम्भ हुआ और उनकी समाधि खुल गई। समाधि खुलते ही उस महात्मा ने प्रभुजी के चरणारविन्दों में दण्डवत प्रणाम किया और चरण पकड़ करके प्रेम विह्वल होकर रोने लगा। कुछ स्थिर होने पर दीन–भाव से प्रार्थना की–हे प्रभो, सर्वसमर्थ, सर्वशक्तिमान, प्राणिमात्र के भाग्यविधाता आपने मेरी कठिन परीक्षा ली। प्रभो, मैं तो आपके चरण कमलों में इसलिए नहीं आ सकता था क्योंकि मेरा शरीर नग्न था और आप स्त्री–पुरुषों के समाज के मध्य विराजा करते थे। अतः मैंने आपके चरणारविन्दों में पहुचने का साहस ही नहीं किया। श्री बद्रीनारायण जी के पहाड़ में शतपथ के मार्ग में खेचरी मुद्रा का पूर्ण ज्ञान न होने के कारण मेरी समाधि स्थिति में विघ्न बाधाएं आती रहती थी। आपने कृपा करके मुझे अपने चरणारविन्दों में आने की आज्ञा दी। आपके अखण्ड तेज को देखकर ही मैं यहाँ चला आया हूँ। मुझे यह ज्ञात नहीं कि यह नगर कौन सा है ? यहाँ पहुँचने के बाद मेरी आँखों ने आज आपके ही प्रथम दर्शन प्राप्त किए हैं। कृपा करके मुझे कृतार्थ कीजिए और मेरी खेचरी सिद्ध करा दीजिए।

उसको इस प्रकार प्रार्थना करने के बाद श्री प्रभुजी ने परम कृपा करके खेचरी सिद्धि के लिए उसको कोई मन्त्र बतलाया व खेचरी सिद्ध करा दी। बहुत थोड़े समय में ही उस महात्मा का यह सब कार्य करा के उसको तत्काल शतपथ लौट जाने की आज्ञा दे दी। श्री प्रभुजी के आज्ञा प्रदान कर देने के बाद वह महात्मा तत्काल वहाँ से चल दिये। थोड़ी दूर चलने के बाद तत्काल ही अन्तर्ध्यान भी हो गए। इस अद्भुत घटना को देखकर सभी को महान आश्चर्य हुआ। जो लोग श्री प्रभुजी को अत्यन्त आग्रह करके वहाँ बुलाकर लाए थे, उनके तो आश्चर्य का ठिकाना ही नहीं रहा, उन्होंने आपने में निश्चय कर लिया कि यह

मनुष्य के रूप में अवश्य कोई परम पुरुष है। इस घटना के बाद श्री प्रभु जी की महिमा का विस्तार धीरे-धीरे अमृतसर में बढ़ने लगा। जिज्ञासुओं की भीड़ रहने लगी और श्री प्रभु जी के अनुग्रह को प्राप्त करके लोग मनचाहे लाभ उठाने लगे। जो लोग अभ्यास मार्ग में लगते थे, उनके अनुभव बहुत दिव्य, दिन-प्रतिदिन बढ़-चढ़कर होते थे। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी की यह चर्चा कर्ण-परम्परा से प्रायः सारे नगर में फैल गई।

अमरनाथ जी की योगदीक्षा एवं ध्यानयोग में उच्चतम स्थिति

अमरनाथ जी अमृतसर (पंजाब) में निवास करते हुए वहाँ एक साधारण सा व्यवसाय किया करते थे। जन्म-जन्मान्तर के संस्कार वश बचपन से ही उनकी प्रवृत्ति योगमार्ग में थी, किन्तु उस मार्ग के प्रदर्शक किसी परिपूर्ण गुरुदेव की प्राप्ति न हो पाने के कारण उनके मन में निराशा एवं अशान्ति बनी रहती थी। जन्म-जन्मान्तर के पुण्यों का उदयकाल उपस्थित होने पर उन्होंने किसी व्यक्ति के मुख से प्रभु जी की महिमा सुनी तो वे उनके दर्शनार्थ गये और तब से लेकर नित्य प्रति सत्संग में जाना शुरू कर दिया। शनैः शनैः प्रभु चरणों में उनकी निष्ठा बढ़ती चली गयी। पवित्र योगमार्ग में दीक्षित हो जाने के उपरान्त उनकी ध्यान स्थिति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। श्री प्रभु कृपा से उनका मन ब्रह्माण्ड में लय हो जाता था और आसन भूमि से ऊपर उठ जाया करता था। उनका मन संसार से बिल्कुल विरक्त हो गया था। और वे सब कुछ त्यागकर वनों में चले जाने का विचार कर रहे थे किन्तु परिवार वालों ने उन्हें गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने को बाध्य कर दिया। बार-बार मना करने पर भी प्रारब्धवश उन्हें विवाह करने को विवश होना पड़ा।

विवाह के समय ही उन्होंने अपने ससुर और बड़े भाई लक्ष्मणदास को यह संकेत दिया था कि एक वर्ष पश्चात् ही वे इस संसार से सदा-सदा के लिये विदा हो जायेंगे। विवाह हो जाने के बाद उन्होंने अपने ध्यानाभ्यास में कोई कमी नहीं आने दी। उनकी साधना का क्रम पूर्ववत् चलता रहा। उनका मुख-मण्डल तेज से देदीप्यमान हो रहा था, अन्त में वर्ष की समाप्ति के साथ ही उनके महाप्रयाण का दिन भी आ गया जिसकी उन्हें प्रतीक्षा थी। उस दिन उन्होंने प्रातःकाल ही स्नान किया। उस दिन वे विशेष प्रसन्न नजर आ रहे थे। उनका बार-बार भस्त्रिका प्राणायाम चल पड़ता था। उन्होंने अपने भाई लक्ष्मणदास को बुलाकर कहा-भाई जी एक वर्ष पूरा हो गया है और मेरी महायात्रा का दिन भी आ गया है। दो घंटे पश्चात् मैं तुम लोगों से विदा हो जाऊँगा। आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप भी योगमार्ग को अपनाकर मनुष्य जीवन सफल कर लो। बड़े सौभाग्य की बात है कि सद्गुरुतत्व के अवतार योगेश्वर प्रभु रामलाल जी महाराज आजकल इस पृथ्वी पर

विराजमान हैं। अतः उनकी चरण शरण ग्रहण करके आप सबको अपना उद्धार कर लेना चाहिए। सभी पारिवारिक जनों को इस प्रकार से उपदेश देकर उन्होंने कहा–अच्छा हमारा दो घंटे का संस्कार शेष है उसका भी मैं भुगतान कर लेता हूँ। देखते ही देखते अमरनाथ जी को तीव्र ज्वर हो गया। तीव्र ज्वर की वेदना में भी उनका प्राणायाम पूर्ववत चलता रहा। कुछ समय उनकी दृष्टि भ्रूमध्य में स्थित हो गयी और फिर ब्रह्मरन्ध्र भेदन करके वे शरीर से बाहर निकल गये।

अग्नि संस्कार के लिये उनका मृत शरीर श्मशान घाट पर ले जाया गया। चिता निर्माण हो जाने पर उनका शरीर चिता पर रख दिया गया। ज्योंही अग्नि संस्कार आरम्भ हुआ। घंटे, घड़ियाल, शंख, मृदंग आदि अनेक प्रकार के वाद्य यन्त्रों की ध्वनि चिता के ऊपर होने लगी जिसे वहाँ उपस्थित सब लोगों ने सुना, धीरे–धीरे वह ध्वनि ऊपर उठती हुई आकाश में विलीन हो गई। अन्तर्दृष्टि प्राप्त जो योगी वहाँ उपस्थित थे उन सभी ने खुली आँखों से देखा कि योगी अमरनाथ जी एक श्वेत वर्ण के दैदीप्यमान विमान पर विराजमान हैं और उनका स्वरूप चतुर्भुज भगवान विष्णु जैसा है। उनके विमान के पास बहुत से दिव्य वाद्य–यन्त्र बज रहे हैं तथा विमान पर आकाश से पुष्पों की वर्षा हो रही है। इस प्रकार अहैतुक कृपालु श्री प्रभु जी ने योग अमरनाथ जी को बैकुण्ठ लोक पहुँचा दिया।

श्री मानिकचन्द दलाल को जीवनदान

मानिकचन्द जी अमृतसर (पंजाब) के रहने वाले थे। क्षयरोग हो जाने से उनके दोनों फेफड़े खराब हो गये थे। उन्हें इलाज के लिये सोलन (हि० प्र०) कि एक टी०बी० सैनीटोरियम में ले जाया गया, कुछ दिन वहाँ उपचार भी होता रहा। बाद में डाक्टरों ने यह कहकर उन्हें छुट्टी दे दी – 'तुम्हारे दोनों फेफड़े पूरी तरह से गल चुके हैं। इसलिये तुम्हारा अब कोई इलाज संभव नहीं है। अब तुम घर चले जाओ और जीवन के इने गिने शेष दिनों को अपने कुटुम्बियों के बीच बिताओ।' उनकी पत्नी ज्ञान देवी ने सोचा कि–इन्होंने अब बचना तो है नहीं। घर ले जाकर उन्हें क्या करूँगी ? अतः ऋषिकेश चलना चाहिए। वहाँ गंगा जी के तट पर यदि इनका शरीर छूट भी गया तो अगला जीवन सुधर जायेगा। यह सोचकर वह अपने पति को ऋषिकेश ले गयी और वहाँ पहुँचकर पुण्य संस्कार वश प्रभु प्रेरणा से वह तांगा करके सीधी योग साधन आश्रम के द्वार पर पहुँची और स्वयं तांगे से उतरकर अपने पति को भी उतरवा दिया। प्रभु जी उस समय गंगातट पर भ्रमणार्थ गये हुए थे। लौटकर आने पर पहले तो उन्होंने उस रोगी को वहाँ रखने से मना कर दिया पर ज्ञानदेवी के दीनतापूर्ण वचनों को सुनकर दयार्द्र होकर उन्होंने उन्हें आश्रम

में ठहरा दिया। अगले ही दिन लीलाधारी श्री प्रभु जी ने एक अद्भुत लीला की। उन्होंने ज्ञानदेवी को कहा देवी ! तेरा पति जो कुछ खाना चाहता है तू उसे वही चीज खिला दे, प्रभु सब ठीक करेंगे। ज्ञानदेवी ने जब अपने पति से पूछा तो उसने मिर्च और खटाई वाले पकौड़े खाने की इच्छा प्रकट की। ज्ञान देवी ने प्रभु जी से पूछकर बाजार से पकौड़े लाकर अपने पति को खिला दिये। पकौड़े खाने की देरी थी कि भयंकर खाँसी के साथ-साथ मानिकचन्द को बड़ा तीव्र ज्वर चढ़ गया और वे कराहते-कराहते अचेत हो गये। पति की मरणासन्न दशा देखकर ज्ञानदेवी विलाप करती हुई प्रभु जी को भला-बुरा कहने लगीं। उसी समय मानिकचन्द जी को बेहोशी की हालत में एक स्वप्न सा दिखाई दिया, उन्होंने देखा कि प्रभु जी एक अत्यन्त तेजस्वी रूप में उनके सामने प्रकट होकर बोल रहे हैं-मानिकचन्द तू अब इस कष्ट को नहीं भोग सकेगा। अतः अपना रोग हमें दे दे। तुम्हारा शेष रोग हम भोग लेते हैं। जल्दी अपना मुख खोल, ज्यों ही मानिकचन्द ने अपना मुख खोला तो उसके मुख से एक काले रंग का गोला निकला और वह प्रभु जी के मुख में प्रवेश कर गया। इसके साथ ही मानिकचन्द को होश आ गया और वे अपने को कुछ स्वस्थ अनुभव करने लगे।

उधर प्रभु जी ने एक कमरे में निवाल की चारपाई लगवा दी और उस पर बिस्तरा बिछवाकर एक मोटा सा कम्बल ओढ़कर लेट गये। मानिकचन्द का सारा रोग उन्होंने अपने शरीर पर खींच लिया था। उन्हें तीव्र ज्वर हो गया, ज्वर के साथ-साथ असहनीय खाँसी भी होने लगी। ज्ञानदेवी का रोना सुनकर उन्होंने उसके पास एक लड़का भेजकर उससे कहलवाया कि तुम रोना बन्द कर दो, तुम्हारा पति अभी कुछ मिनटों में ठीक हो जायेगा। इस पर जब वह शान्त नहीं हुई तो मानिकचन्द ने उसे समझाते हुए कहा कि देखो तुम यह रोना बन्द करो, मेरा रोग उन दया सागर प्रभुजी ने ले लिया है। अब मेरा सारा कष्ट वे अपने शरीर पर भोग रहे हैं और मैं बिल्कुल स्वस्थ हो गया हूँ। प्रभु जी ने तीन दिन तक उस रोग का भुगतान किया और चौथे दिन स्वस्थ होकर बाहर आ गये, तीन दिन में उनका शरीर दुबला हो गया था जैसे कि वे वर्षों से रुग्ण चले आ रहे हों। फिर एक सप्ताह पश्चात् उनका शरीर पहले की भाँति हृष्ट-पुष्ट हो गया।

तब प्रभुजी ने उन्हें तथा उनकी पत्नी ज्ञानदेवी को विधि पूर्वक योगदीक्षा दे दी। तीव्र शक्तिपात के फलस्वरूप उन दोनों का उसी दिन से ध्यान लगना आरम्भ हो गया। वे प्रभु जी की बताई विधि के अनुसार नियमित रूप से ध्यानाभ्यास करने लगे और कुछ दिनों में ही ध्यान की उच्चस्थिति में पहुँच गये। माणिकचन्द जी को ध्यान में बड़े दिव्य अनुभव होते

थे. प्रभु जी से उनकी वार्ता होती रहती थी। और प्रभु जी उन्हें भूत–भविष्य की बहुत सी बातें बता दिया करते थे। इस प्रकार माणिकचन्द जी कई वर्षों तक ध्यान समाधि का आनन्द लेते रहे। अन्त में मृत्युकाल निकट आने पर प्रभुजी ने उन्हें ध्यान में ही बता दिया कि दो दिन बाद तुम्हारा शरीर छूट जायेगा। तब पंचक लगने वाले थे। अतः अपने पुत्र को प्रभु जी के पास भेजकर उन्हें कहलवाया :–

"प्रभु जी ! दो दिन के बाद पंचक लग रहे हैं और पंचकों में शरीर छूटना अच्छा नहीं माना जाता. अतः अब आप ही बताइये कि मुझे क्या करना चाहिये ?" लड़के ने ये सारी बात प्रभुजी को बता दी। सुनकर प्रभुजी हंसते हुए बोले– अच्छा ! अब माणिकचन्द को पंचकों का भय लगने लगा है। उन्होंने अपने गले से एक माला उतारकर लड़के को पकड़ाते हुए कहा–लो, यह माला ले जाओ इसे अपने पिता के गले में पहना दो। उनसे कहना–अब जीवन से अधिक मोह मत रखो, तुम्हारी मृत्यु पाँच दिन के लिये टल गई। इन पाँच दिनों में गंगाजल और तुलसीपत्र का सेवन करते हुए खूब भजन करो।

श्री प्रभुजी की आज्ञा का पालन करते हुए माणिकचन्द ने ऐसा ही किया और ठीक छठे दिन योगरीति से अपने नश्वर देह का परित्याग कर दिया।

❊ ❊ ❊

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति, पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।।

इस शरीर में एक अपने कर्म का फल भोग करता है और दूसरा भोग कराता है। दोनों ही हृदयाकाश और बुद्धि में प्रविष्ट हैं। इनमें एक (जीवात्मा) संसारी है, दूसरा (परमात्मा) असंसारी है। इसलिए ब्रह्मज्ञाता और गृहस्थ इन दोनों को छाया और आतप (धूप) के समान विलक्षण कहते हैं।

ज्ञानी के लिये प्रारब्ध नहीं रह जाता

हे महामते! निरन्तर प्रयत्न करके आत्मा के स्वरूप को जानकर उसी के चिन्तन में अपना समय व्यतीत करो, समस्त प्रारब्ध कर्मों के भोगों को भोगते हुए तुम्हें उद्विग्न नहीं होना चाहिये। आत्मज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध स्वयं नहीं छोड़ता। परन्तु जब तत्त्वज्ञान का उदय होता है, तब ज्ञानी की दृष्टि में प्रारब्ध कर्म का उसी प्रकार अभाव हो जाता है, जिस प्रकार स्वप्नलोक के देहादिक असत् होने के कारण जागने पर नहीं रह जाते। जन्मान्तर के किये हुए जो कर्म हैं, वे ही प्रारब्ध कहे गये हैं। परन्तु ज्ञानी के लिये तो जन्मान्तर भी नहीं है। अतः उसके लिये कभी भी प्रारब्ध नहीं रहता। जिस प्रकार स्वप्नकालीन देह देह नहीं होती, अध्यासमात्र होती है, उसी प्रकार यह जाग्रत्–काल का शरीर भी अध्यासमात्र है। अध्यस्त पदार्थ की उत्पत्ति कहाँ होती है। और जिसकी उत्पत्ति नहीं हुई, उसकी स्थिति कहाँ! (जैसे रज्जु में सर्प का अध्यास होने पर रज्जु में सर्प नहीं पैदा होता और न वहाँ सर्प की स्थिति ही होती है।) इस प्रपंच का उपादान कारण आत्मा है, जिस प्रकार मिट्टी के पात्रों का उपादान कारण मिट्टी है। वेदान्त के अनुसार यह प्रपंच अज्ञान के कारण आत्मा में भासता है, यदि अज्ञान नष्ट हो जाय तो विश्व की स्थिति कहाँ रहेगी। जिस प्रकार भ्रम से मनुष्य रज्जुबुद्धि का त्याग करके उसे सर्पबुद्धि से ग्रहण करता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष सत्य (आत्मा) का ज्ञान न होने के कारण प्रपंच को देखता है।

जब सामने रस्सी के टुकड़े को अच्छी तरह पहचान लेने पर जैसे उसमें प्रतीत होने वाला सर्परूप नहीं रह जाता, उसी प्रकार अधिष्ठानस्वरूप आत्मा का ज्ञान होने पर जब प्रपंच भी शून्यता को प्राप्त हो जाता है, तब देह भी प्रपंच रूप ही होने के कारण उसके साथ ही शून्यता में परिणत हो जाता है। उस अवस्था में प्रारब्ध की स्थिति कैसे रह सकती है। अज्ञानीजनों को समझाने के लिये प्रारब्ध की बात कही जाती है। तदनन्तर कालवश ही प्रारब्ध के नष्ट हो जाने पर प्रणव और ब्रह्म की एकता के चिन्तन से नादरूप में साक्षात् ज्योतिर्मय, शिवस्वरूप परमात्मा का आविर्भाव होता है—ठीक वैसे ही, जिस प्रकार मेघ के दूर हो जाने पर सूर्यनारायण प्रकाशित हो उठते हैं। योगी सिद्धासन से बैठकर वैष्णवी मुद्रा धारण करके दाहिने कान के भीतर उठते हुए नाद (अनाहत ध्वनि) को सदा सुनता रहे। इस प्रकार अभ्यास में लाया हुआ नाद बाह्य ध्वनियों को आवृत कर लेता है। इस प्रकार एक पक्ष अर्थात् अकार को जीतकर दूसरे पक्ष उकार को जीते और क्रमशः सम्पूर्ण प्रणव पर विजय प्राप्त कर तुर्यपद अर्थात् आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त होता है।। ५—११।।

✿ ✿ ✿

प्रेषक कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र

सैंगाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ______________________

____

____

□□□□□□

मीडिया पोस्ट

हृदय स्पर्शी सेवा

हमारे (ब्राण्ड) का बाजार में स्थापित करने के लिए एक अनोखी एवं प्रभावशाली माध्यम -

निम्न माध्यमों से विज्ञापन की सुविधा

1. डाक वस्तुओं पर मोहर लगाकर (रबड़ स्टाम्प) का विज्ञापन

2. लेटर बॉक्सों पर स्टीकर का प्रायोजन [illegible]

3. [illegible] ... रु. 1000 प्रति [illegible] ... रु. 100.00 प्रति [illegible]

4. [illegible]

5. [illegible] ... 100/- प्रति [illegible]

6. [illegible] ... 100/- प्रति [illegible] ... 400/-

7. [illegible] ... 2/- प्रति [illegible]

संस्थापक–योग योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डा. रामलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ग्राफिक्स एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–8 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सैंगाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर. एन. आई. रजि. नं. UPHIN/2004/14586 सम्पादक : आचार्य डॉ. (डॉ.) रामलाल शर्मा